सांच को आंच नहीं

- भूषण शाह

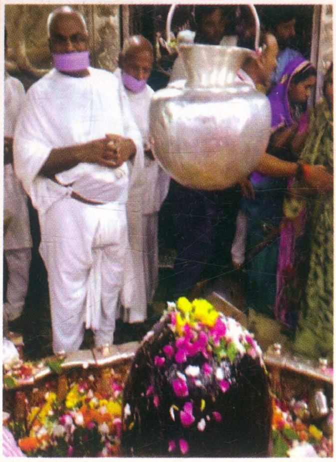

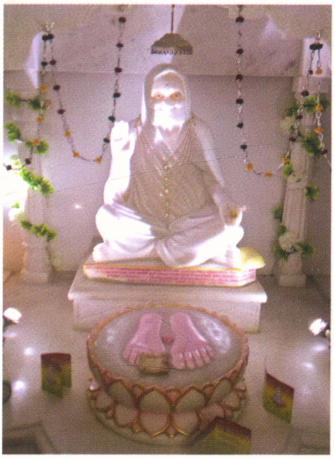

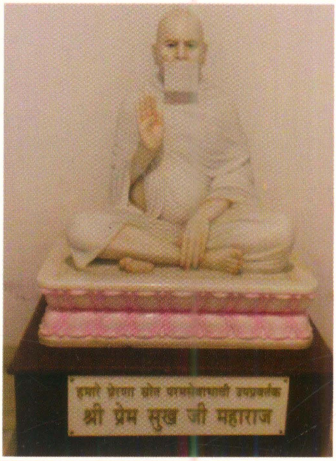
हमारे प्रेरणा स्रोत परमसेवाभावी उपप्रवर्तक
श्री प्रेम सुख जी महाराज

स्वामी रूप चन्द जी महाराज

स्वामी श्री फूल चन्द गुरुवे नमः
दान पात्र

॥ जैनशासन जयकारा ॥

"सांच को आंच नहीं"

('जैसी दे वैसी मिले कुए की गुंजार' पुस्तक की समीक्षा)

❖ **देवलोक से दिव्य सान्निध्य** ❖

प.पू. गुरुदेव जंबूविजयजी महाराज

❖ **मार्गदर्शन** ❖

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी

❖ **लेखक** ❖

भूषण शाह

❖ **प्रकाशक** ❖

चन्द्रोदय परिवार

B-405/406, सुमतिनाथ कोम्पलेक्ष,

बाबावाडी मांडवी (कच्छ) 370465

©प्रकाशक
प्रति: १,००,०००
मूल्य: १००/-
प्रकाशन वर्ष: २०१६
न्याय क्षेत्र: श्री सिमंधर स्वामि समवसरण- महाविदेह
प्राप्ति स्थान : सुनिल बालड जमना विहार- भिलवाडा(राज.)
आप **online** भी पढ सकते है.- **www. jaineliabrary.org**

"सांच को आंच नहीं, वह तो अटल है"

श्रमण भगवान महावीर ने 12 1/2 साल की घोर साधना करके केवलज्ञान की प्राप्ति की एवं स्वयं ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया, उस सत्य को देशना के द्वारा भव्यजीवों के आगे प्रगट किया।

श्री आचाराङ्ग सूत्र में प्रभुने बताया है कि -

'सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ ।' (अ.३.उ.२.सू.११२)

यानि सत्य को पाने की इच्छा से तटस्थ भाव से अन्वेषण करो, सत्य को पहचानकर उसे स्वीकारो और अपना जीवन उसके अनुरुप जीयों। जो भव्यजीव आगम के द्वारा निर्दिष्ट सत्य की राह पर चलने का मध्यस्थ भाव से पुरुषार्थ करता है, वह सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

सत्य तो शाश्वत है, उसे कोई बदल नहीं सकता है। जरूरत है केवल उसे स्वीकारने की ! परंतु दृष्टिराग, कदाग्रह, मताग्रह के कारण कुछ लोग अपनी मान्यता के अनुसार सत्य को सिद्ध करने की कोशिश करते है एवं सत्य जो दैनिक व्यवहार, मनोविज्ञान, अनुभव, भगवान महावीर से चली आ रही सुविहित परंपरा, इतिहास एवं आगम से सिद्ध है, उसको चुनौती देने का दुःसाहस करते हैं।

ऐसी ही कुछ कोशिश "जैसी दे वैसी मिले, कुएं की गुंजार" में लेखक द्वारा अशिष्ट भाषा में की गयी है। यह पुस्तक सज्जन लोगों में अनादेय ही सिद्ध हुई है फिर भी 'गुँजार' में दिये हुए गलत आक्षेपों को भोली जनता सही न मान लेवें, इसलिए उनका प्रतिकार किया गया है।

"सांच को आंच नहीं वह तो अटल है" इस बात का ज्ञान लेखक एवं वाचकों को होवें इस हेतु "सांच को आंच नहीं" यह पुस्तिका प्रकाशित की है, जिसमें "जैसी दे वैसी मिले, कुएँ की गुंजार" के हर विभाग की आवश्यक समीक्षा की गयी है।

सत्य के उपर लगाये हुए असत्य आक्षेपों का निराकरण करना ही यहां अभिप्रेत है, फिर भी किसी की भावना को ठेंस पहुँची हो या वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो, तो मिच्छामि दुक्कडम् ।

- भूषण शाह

ता.क. : "जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा" एवं "जैसी दे वैसी मिले कुएँ की गुंजार" दोनो पुस्तकें साथ में रखकर पढने से आगे - पीछे के संदर्भों का एकदम स्पष्ट बोध हो सकेगा।

"गुंजार की प्रस्तावना की समीक्षा"

"जैसी दे वैसी मिले, कुए की गुंजार" पुस्तिका देखने में आयी । पूरे जोर से लेखक महाशय जिस पुस्तिका का प्रचार कर रहे है, वह पुस्तिका "जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा" के प्रकाशन से उभरी द्वेषाग्नि के फल स्वरुप है । 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पुस्तक, रतनलालजी डोसी के 'जैनागम विरुद्ध मूर्तिपूजा' के जवाब स्वरुप है । उसमें दिए गए जवाब लगभग शिष्ट भाषा में हैं । जैसी दे.... गुंजार में 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पुस्तक के उत्तर का अंश मात्र भी नहीं है, परंतु दुसरी - दुसरी बातें करके पुस्तिका पूरी की है । तथा पुस्तिका के लेखक श्री अपने स्वभाव अनुसार गाली - गलोच की भाषा में यह पुस्तिका निकाली है । लेखक की विद्वत्ता तो तभी कहलाती, जब शालीन भाषा में उसका उत्तर देते परंतु वह उनसे असंभव होने से कीचड उछालने का काम किया है ।

दैनिक व्यवहार, मनोविज्ञान, इतिहास एवं जैनागम से सिद्ध ऐसी मूर्तिपूजा की, प्रशांत मुद्रावाली एवं शांति का संदेश देनेवाली **जिन प्रतिमा की जी भरके निंदा, पूर्व महापुरुषों की निंदा एवं उनके उपर झूठे आरोप के महापाप से लेखक को चारित्र का त्याग कर संसार में आना पडा** । परंतु रे अज्ञान ! तेरा कैसा माहात्म्य है कि तू विद्वान कहे जानेवाले व्यक्ति को भी मिथ्यात्व में भ्रमित रखकर दुसरे निमित्तों में फसाता है ।

लेखक श्री मुख्य पृष्ठ पर लिखते है "मूर्तिपूजा एवं जैन धर्म तथा हाथपत्ती के आगम विरुद्ध होने की सिद्धि", यह उनकी प्रतिज्ञा सरासर झूठ हैं, क्योंकि पूरी पुस्तिका में एक भी आगमिक प्रमाण लेखक श्री नहीं बता सके हैं । कोरी डींगे हाककर भोली प्रजा-अज्ञानी लोगों को फसाने के काम किए है । जो आगे समालोचना में प्रगट होंगे ।

पृष्ठ नं. २ में आप लिखते हैं "धूर्तों की धूर्ताई और सडे दिमागवालों

की (साधुओं की) जानकारी परिचय पाना हो तो सिरोही के पटनीजी के पास पहोंचे" इसमें लेखकश्री ने इतना भी विचार नहीं किया कि ये सब विशेषण दुसरे को देने गये परंतु खुद को ही लागू हो रहे है । चूँकि जो व्यक्ति कब के चल बसे है, उनके पास वाचकों को पहोंचाते हो, इसे धूर्ताई नहीं तो क्या कहे ?

लेखक श्री 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पुस्तक की प्रस्तावना एवं हृदय की बात बराबर पढते तो, शायद ऐसी मिथ्या बकवासवाली पुस्तिका छपवाने का कष्ट नहीं लेते । सिर-धड बिना की विवादपूर्ण 'जैनागम विरुद्ध मूर्तिपूजा' की नयी - नयी आवृत्तियाँ छपवाकर प्रचार करनेवालों का बुद्धि का उफान है या मूर्तिपूजकों का, विचार करें । मूर्तिपूजकों ने तो विरोध का जवाब ही दिया है।

'शंकाए सही समाधान नही' पुस्तिका वास्तविक यथा नाम तथा गुण है । उसके उत्तर देने की निरर्थक कोशिश की है । उसमें प्रायः प्रश्नों के समाधान नहीं हो पाते है । जिसमें निंदा - टिप्पणी की, पाली से प्रकाशित उस पुस्तक का नाम लिखना था पर बिना परिचय उसके बारे में क्या बात कर सकते हैं ?

शांति समन्वय के जमाने में विखवाद करने की बात लेखक श्री को ही लागु पडती है, यह काम तो खुद ने ही किया हैं, गुमनामी तीर फेंका है और मोबाईल नं. देकर बात करने का मना किया है ।

- भूषण शाह

पुरोवचन

- आ. जयसुंदरसूरिजी म.सा.

कदाचित् कोई पूछ ले कि "गगन में सर्य-चन्द्र चमकते है" - इसमें क्या प्रमाण ? शास्त्र में कहां लिखा है ? अनादिकाल से तो वह नहीं थे अब यकायक कहाँ से आ गये ? कौन से आप्तपुरुषो ने सूर्यचन्द्र का प्रचार किया ? सूर्य-चन्द्र की मान्यता अधिकतर कितनी प्राचीन होगी ? उन मान्यता में पीछे से क्या-क्या परिवर्तन हुआ ? आदि - आदि ।

अहो ! ये प्रश्न कितने गहरे है, कितने कठिन है ? क्या किसी सामान्य पुरुष की गुंजाईश है ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने की ? ऐसे तात्त्विक (!) प्रश्न करने वालों को तो हाथ जोड़कर यही कहना पड़ेगा, भाई (!) तुम्हारे प्रश्न बहुत गहन हैं, कोई सर्वज्ञ ही उनका समाधान कर सकता है ।

ठीक इसी प्रकार १६ वी शताब्दी में जैन शासन में मूर्तिपूजा के गहन विषय में भी ऐसे ही प्रश्नों की परम्परा बनाई गयी । बहुत से घुरंधर पण्डितोने उन प्रश्नो के उत्तर देने का साहस किया, लेकिन प्रश्नकर्ता वर्ग को संतोष हो ऐसा उन तात्त्विक (!) ओर अति गहन (!) प्रश्नों का समाधान कौन करे ? आखिर उन लोगों ने मान लिया - मूर्ति पूजा गलत है, अशास्त्रीय है, आधुनिक है, उसमें किसी आप्तपुरुषों की सम्मति नहीं है ।

बस ! एक नया सम्प्रदाय बन गया, कुछ नाम रख लिया, कुछ वेष बना लिया, झुकने वाले मिल गये जो झुकाने वालों की तरकीब या शरम से छूट न पाए । कुछ शास्त्र मान लिए और कुछ उनकी मनघढंत मान्यताओं के प्रतिकूल थे, उन्हें छोड़ दिये, कुछ नये शास्त्र भी बना लिए, हो गया । भगवान महावीर की मूर्ति को छोड़ दिया, नाम लेने के अधिकार को तो बड़े चाव से सुरक्षित रखा ।

इतिहास के पन्ने उलटाओ, उसमें तो हर जगह मूर्ति-पूजा का ही समर्थन मिलेगा । इतिहास भी उन लोगों ने नया ही बना लिया, जिसमें से

मूर्तिपूजा को निकाल दिया।

अरे ! मूर्तिपूजा ! तूने क्या ऐसा अपराध किया था उन लोगों का, जिससे तेरे नाम से वे लोग कांप उठते है ?

हां ! विक्रम की सातवीं शताब्दी तक किसी अनार्यने भी तेरे खिलाफ एक लफ्ज भी नहीं निकाला था। १३००-१४०० वर्ष पूर्व सबसे पहिले अरब देश में मोहम्मद पैयगम्बर ने तेरा बहिष्कार कर दिया, हाँ उसके पास समसेरों की बड़ी ताकत थी।

वि. सं. १५४४ के निकटवर्त्ती उपाध्याय श्री कमलसंयमजी लिखते है कि उस पैयगम्बर का अनुयायी फिरोजखान बादशाह दिल्ली के तख्त पर आरुढ़ होकर मन्दिर मूर्तियों को तोड़ने लगा।

इधर उसी काल में लोंकाशाह नामक एक जैन गृहस्थ अपमानित हो, सैयद से जा मिला और उन म्लेच्छों के कुसंग से मूर्तिपूजा का जोर शोर से विरोध करने लगा। जैन शासन में मूर्तिपूजा के खिलाफ विद्रोह करने वाले यह प्रथम ही था। मुसलमानों की ओर से उसको मूर्तिपूजा के खिलाफ प्रचार करने में बहुत सहायता मिली। एक सम्प्रदाय बन गया लोंकागच्छ के नाम से, किन्तु उनके अनुयायियों ने सत्य समझकर फिर से मूर्ति को अपना लिया और लोंकागच्छ में पुनः मूर्तिपूजा पूर्ववत् प्रारम्भ हो गयी। काल के प्रभाव से धर्मसिंह और लवजी ऋषि ने उस सम्प्रदाय से अलग होकर फिर से लोंकाशाह की भक्ति के नाम पर मूर्तिपूजा के खिलाफ बगावत की। उनका भी सम्प्रदाय चल पड़ा, लोग उनको ढूंढकमत के नाम से पहिचानने लगे जो नहीं जंचा तो आखिर स्थानकवासी या साधुमार्गी ऐसा सुनहरा नाम बना लिया।

मूर्तिपूजा के खिलैाफ अनेक प्रश्न उपस्थित किये गये। मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय की ओर से उन सभी प्रश्नों का अकाट्य तर्को से और उनके मान्य शास्त्र पाठों से समाधान किया गया, मूर्तिपूजा में चार चाँद लग गये। मेघजी ऋषि, आत्मारामजी महाराज इत्यादि अनेक भवभीरु पापभीरु महापुरुषों ने

उस बेबुनियाद सम्प्रदाय को छोड़ दिया और मूर्ति-पूजा के पक्के समर्थक बन गये ।

१६ वीं, १७ वीं, १८ वीं शताब्दियों में हो गये अगणित आचार्य-मुनियों ने मूर्तिपूजा में अगणित प्रमाण देते हुए अनेक निबन्धों की रचना की । मूर्तिपूजा के खिलाफ जितने भी प्रश्न हो सकते हैं उन सभी का शास्त्रानुसारी तर्कगर्भित समाधान करने के लिए आज तो प्रचुर मात्रा में साहित्य, पुरातत्त्व, शास्त्रपाठ और प्राचीन साक्ष्य उपलब्ध है । तटस्थ बुद्धि से पर्यालोचन करने वालों को शुद्ध तत्त्व निर्णय करने के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध है । इतना होते हुए भी मूर्तिपूजा के विद्वेष से उसके खिलाफ लिखने वाले लेखकों की आज कमी नहीं है, यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों की तोड़-मोड़ किये बिना यह सम्भव ही नहीं है ।

भूषण शाह ने ऐसी तोड़-मोड़ करने वाले लेखकों की कुचेष्टा का पर्दा फाश करने का इस पुस्तक में एक सराहनीय कौशलपूर्ण विद्वद्गम्य प्रयास किया है इसमें सन्देह नहीं है । इससे तटस्थ इतिहास के जिज्ञासुओं को सत्य-तथ्य की उपलब्धि होगी, भावभीरुवर्ग को दिशा परिवर्तन की प्रेरणा भी मिलेगी, उत्पथगामियों को सत्यमार्ग का प्रकाश मिलेगा ।

मूर्तिपूजा शास्त्रोक्त और आत्मोन्नति के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है, इस तथ्य की सिद्धि में हजारों प्रमाण मौजूद है । मूर्तिपूजा को प्रमाणित करने वाले आचार्यों में उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज का नाम अग्रसर स्मरणीय है । स्थानकवासी सम्प्रदाय में भी आज इनके जैन-तर्कभाषा आदि ग्रन्थों की बड़ी प्रतिष्ठा है । प्रतिमाशतक, प्रतिमास्थापनन्याय, कूपदृष्टान्त विशदीकरण, उपदेशरहस्य, षोड़शक टीका इत्यादि ग्रन्थों में जिन अकाट्य प्रमाणों का निर्देश किया है, उनके सामने सभी स्थानकवासियों का मुंह आज तक बन्द ही रहा है । किसी ने भी उनके खिलाफ कुछ भी लिखने की हिम्मत आज तक नहीं की है ।

मूर्तिपूजा के समर्थक और भी कई ग्रन्थ है जिनमें ये प्रमुख हैं - वाचक

शेखर श्री उमास्वाति आचार्य महाराज कृत पूजा प्रकरण, १४ पूर्वी पूज्य भद्रबाहुस्वामी महाराज कृत आवश्यक निर्युक्ति आदि, आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज कृत पूजा पंचाशक प्रकरण, षोड़शक प्रकरण और श्रावक प्रज्ञप्ति टीका एवं ललितविस्तरा ग्रन्थ, आचार्य श्री शांतिसूरिजी महाराज कृत चैत्यवंदन बृहदभाष्य, अवधिज्ञानी श्री धर्मदासगणि महाराजकृत उपदेशमाला, कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज कृत योग शास्त्र आदि ग्रन्थ, नवांगी टीकाकार आचार्य श्री अभयदेवसूरि महाराज कृत पंचाशक वृत्ति ।

तदुपरान्त श्री ज्ञाता धर्मकथा सूत्र, ठाणंग सूत्र, रायपसेणी सूत्र, जीवाभीगम सूत्र, महा प्रत्याख्यान सूत्र, महाकल्पसूत्र, महानिशीथ सूत्र इत्यादि मूल अंग-उपांग सूत्रों में भी मूर्तिपूजा के अनेक उल्लेख भरे पड़े है ।

महा कल्पसूत्र मे गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर में श्री महावीर भगवान ने कहा - "जो श्रमण जिन मंदिर को न जाय उसे बेला या पांच उपवास का प्रायश्चित आता है, उसी तरह श्रावक को भी ।" तथा इसी सूत्र में कहा है - जो श्रावक जिन पूजा नहीं मानते वे मिथ्यादृष्टि है । तथा सम्यग्दृष्टि श्रावक को जिनमन्दिर में जाकर चन्दन-पुष्पादि से पूजा करनी चाहिए ।

श्री भगवती सूत्र में - तुंगीया नगरी के श्रावकों ने स्नान करके देवपूजन किया यह उल्लेख है -

"ण्हाया कयबलिकम्मा"

श्री उववाई सूत्र में चम्पा नगरी के वर्णन में "बहुलाइ अरिहंत चेइयाइ" बहुत से अरिहन्त चैत्यों यानी जिन मंदिर का उल्लेख है ।

श्री भगवती सूत्र में चमरेन्द्र के अधिकार में तीन शरण दिखाये है - "अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणि वा भाविअप्पणो अणगारस्स वा ।" यहां अरिहंत चेइयाणि का अर्थ अरिहंत की प्रतिमा एसो होता है ।

श्री उपासकदशांग आगम सूत्र में आनन्द श्रावक के अधिकार में जिन प्रतिमा वंदन का उल्लेख है -

"नो खलु में भंते ! कप्पइ................ अन्नउत्थिय परिग्गहियाणि अरिहंत

चेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा।"

यहां अन्य तीर्थिकों से परिगृहीत जिनप्रतिमाओं को वंदन न करने के नियम से अन्य तीर्थिकों से अपरिगृहीत जिन प्रतिमाओं को वन्दन की सिद्धि होती है।

श्री कल्पसूत्र में भी सिद्धार्थ राजा ने हजारों की संख्या में जिन प्रतिमा पूजन करवाने का "याग" शब्द से उल्लेख है।

श्री व्यवहार सूत्र में जिन प्रतिमा के सन्मुख आलोचना (प्रायश्चित) करने का उल्लेख हैं।

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में निर्जरार्थी को चैत्यहेतुक वैयावच्च करने का आदेश है - "चेइयट्ठे.......... इत्यादि" साधु को अर्थात् प्रतिमा की हिलना, अवर्णवाद और अन्य आशातनाओं का निवारण करने का कहा है।

श्री द्वीपसागरपन्नति सूत्र में कहा है कि स्वयंभूरमण समुद्र में जिन प्रतिमा के आकार वाले मत्स्य होते है, जिनको देखकर जातिस्मरण होने से तिर्यंच जलचरों को सम्यक्त्व प्राप्ति होती है।

श्री भगवती सूत्र के प्रारम्भ में ही ब्राह्मी लिपि को भी नमस्कार किया है।

इस प्रकार अनेक शास्त्र - आगम सूत्रों से मूर्तिपूजा सिद्ध होती है।

मूर्तिपूजा से लाभ होता है या नहीं ? - यह तो करनेवाला ही जान सकता है, नही करनेवाले को क्या पता ?

हां ! कोई इक्षुरस की मधुरता का चाहे कितना भी अपलाप करे किन्तु उसका आस्वाद करने वाला तो उसके मधुर रस का साक्षात् ही अनुभव करता है। स्थानकवासी और तेरापंथी बन्धु और साधु-संतों से यह अनुरोध है कि वे सभी समुदाय में या अकेले एक मास स्वयं जिन-मूर्ति की उपासना करके अनुभव करे कि उसमें लाभ होता है या नहीं ? हस्त कंकण को कभी दर्पण की जरूरत नहीं होती।

मूर्तिपूजा के समर्थक लेख और निबन्धों से विगत कुछ वर्षो में यह

लाभ अवश्य हुआ है कि कुछ कट्टर विरोधी साधुओं.... महासतिओं को छोड़कर अधिकांश वर्ग ने मूर्तिपूजा का विरोध करना छोड़ दिया है। अनेक स्थानकवासी सद्गृहस्थों ने मंदिर में दर्शन करना प्रारम्भ भी किया है, हालांकि वे लोग गांव में पूजा-भक्ति करने में कुछ हिचकाते जरूर हैं किन्तु तीर्थों मे जाकर पूजा-भक्ति कर लेते हैं।

मूर्तिपूजा में हिंसा है सावद्य है इत्यादि जो पहले घोषणा की जाती थी, वह भी मन्द होती जा रही हैं, क्योंकि मूर्तिपूजा में कोई हिंसादि दोष नहीं बल्कि अगणित लाभ ही है, इस तथ्य को शास्त्र, तर्क और अनुभव का पुष्ट समर्थन है।

समय समय पर मूर्तिपूजा के समर्थन में ऐसे लेख और निबंध लिखे ही जा रहे है और उसी का यह सत्प्रभाव है कि हजारों लोग पुनः मूर्तिपूजा को आदर से देखने लगे हैं। इस पुस्तक से भी यही लाभ सम्पन्न होगा यह आशा की जाती है। पुस्तक के लेखक का यह शुभ प्रयत्न निःसन्देह अभिनन्दन के योग्य है।

(साभार - कल्पित ईतिहास से सावधान पुस्तक)

'व्यवहार का ज्ञान' की समीक्षा

इस प्रकरण में लेखक श्री ने की हुई सभी बातें खुद को ही लागु होती है। दी हुई गालियाँ भी रिबाउंस **(Rebounce)** होकर उन्हें ही लगेगी। चूँकि मूर्तिपूजकों को कपूत और खुद के पंथवालों को सपूत बताकर यह प्रकरण रचा है। अपने मुंह अपनी बढाईयाँ करनेवालों की दुनिया में कमी नहीं हैं। प्रमाणो से सिद्ध किये बिना वे बातें स्वीकार्य नहीं होती हैं। अब हम सत्य प्रमाणों के आधार से 'मूर्तिपूजक सपूत हैं', उसका निर्णय करेंगे -

सालों पहले स्थानकवासी और दिगंबर कल्पसूत्र को अप्रामाणिक कहते थे। उसकी पट्टावलीयों को काल्पनिक कहते थें। परंतु मथुरा के कंकाली टीले का अंग्रेजों द्वारा उत्खनन हुआ। उसमें अनेक अतिप्राचीन जिनप्रतिमाएं निकली। वे आज भी पुरातत्त्व संग्रहालय में विद्यमान है। जिनपर प्राचीन लिपी में लेख हैं, उसमें बहुत सारे आचार्यों के नाम अंकित हैं। अनेक विद्वानों द्वारा निर्णय होने पर पता चला कि उनकी शाखा - गण आदि सभी कल्पसूत्र की पट्टावली से ही मिलते हैं। प्राचीन कल्पसूत्र की पुस्तकों में जैसे गर्भापहार के चित्र दिये हैं, वैसे दृश्यवाला शिलापट्ट भी मिला, यह देखकर दिगंबर, स्थाकनवासियों को चुप्पी करनी पडी। इतना होने पर भी लेखक तो अभी भी कल्पसूत्र में प्रक्षेप और झूठी कल्पनाओं का होना मानते है, यह कैसा कदाग्रह ? फिरभी उस कल्पसूत्र के आधार से खुद को सपूत कहने जा रहे है ! है ना लेखक श्री की अक्लमंदता ! कल्पसूत्र को प्रमाण माने बिना खुद सपूत कैसे बनेंगे ?

स्थानकवासी समाज के समर्थ विद्वान देवेन्द्रमुनिशास्त्रीजी भी कल्पसूत्र की प्रामाणिकता को स्वीकारते हुए कहते है कि -

"वर्तमान में जो पर्युषणाकल्पसूत्र है, वह दशाश्रुतस्कंध का ही आठवाँ अध्ययन है।

दशाश्रुतस्कंध की प्राचीनतम प्रतियाँ (१४ वी शताब्दी से पूर्व की) जो पुण्यविजयजी महाराज के असीम सौजन्य से मुझे देखने को मिली हैं, उनमें आठवें अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र आया है जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि

कल्पसूत्र कोई स्वतंत्र एवं मनगढ़न्त रचना नहीं है अपितु दशाश्रुतस्कंध का ही आठवाँ अध्ययन है।

प्रश्न हो सकता है कि आधुनिक दशाश्रुतस्कंध की प्रतियों में कल्पसूत्र लिखा हुआ क्यों नहीं मिलता ? इसका उत्तर यही है कि जब से कल्पसूत्र का वांचन पृथक् रूप से प्रारम्भ हुआ, तब से दशाश्रुतस्कंध में से वह अध्ययन कम कर दिया गया होगा। यदि पहले से ही वह उसमें सम्मिलित न होता तो निर्युक्ति और चूर्णि में उसके पदों की व्याख्या नही आती। मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कंध की चूर्णि लगभग सौलह सौ वर्ष पुरानी है।

स्थानकवासी जैन परम्परा दशाश्रुतस्कंध को प्रामाणिक आगम स्वीकार करती हैं तो कल्पसूत्र को जो उसी का एक विभाग हैं, अप्रमाणिक मानने का कोई कारण नही प्रतीत होता। मूल कल्पसूत्र में ऐसा कई प्रसंग या घटना नहीं है जो स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के विपरीत हो। श्रमण भगवान महावीर की जीवन झाँकी का वर्णन भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से विपरीत नहीं है। अन्य तीर्थङ्करों का वर्णन जैसा सूत्ररूप में अन्य आगम साहित्य में बिखरा पड़ा हैं, उसी प्रकार का इसमें भी हैं। सामाचारी का वर्णन भी आगम-सम्मत है। स्थविरावली का निरूपण भी कुछ परिवर्तन के साथ नन्दीसूत्र में आया ही है। अतः हमारी दृष्टि से कल्पसूत्र को प्रामाणिक मानने में बाधा नहीं हैं। (जैन आगम साहित्य मनन और भीमांसा पृ. ४४. ५४५)

कल्पसूत्र के पहले सूत्र में 'तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे.... और अंतिम सूत्र में.... भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ' पाठ है। वही पाठ दशाश्रुत स्कन्द के आठवें उद्देशक (दशा) में हैं। यहाँ पर शेष पाठ को 'जाव' शब्द के अन्तर्गत संक्षेप कर दिया है। वर्तमान में जो पाठ उपलब्ध है उसमें केवल पंचकल्याण का ही निरूपण है जिसका पर्युषणा कल्प के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि पर्युषणा कल्प इस अध्ययन में पूर्ण कल्पसूत्र था। कल्पसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध इन दोनों के रचयिता भद्रबाहु हैं। इसलिए दोनों एक ही रचनाकार की रचना होने से यह कहा जा सकता है

कि कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन ही है। वृत्ति, चूर्णि, पृथ्वीचंद टिप्पण और अन्य कल्पसूत्र की टीकाओं से यह स्पष्ट प्रमाणिक है।"

इस प्रकार जब एतिहासिक हैं संशोधन एवं लेखक के मान्य आचार्य कल्पसूत्र को प्रमाणिक कर रहे तब उनकी बात भी नही मानने वाले लेखकश्री पूर्वाचार्यो के सपूत कैसे बन सकेंगे ? पाठक गण निर्णय करें।

श्री कल्पसूत्र में यह उल्लेख है कि भगवान महावीर के निर्वाण के समय में उनकी राशि पर भस्मग्रह का आक्रमण हुआ, जिससे भगवान महावीर के बाद २००० वर्षों तक 'श्रमण संघ' की उदय उदय पूजा न होगी। वे २००० वर्ष वि. सं. १५३० में पूरे होते हैं। उसके बाद सं. १५३१ में लौंकाशाह ने क्रियोद्धार किया, यह हकीकत 'श्री जैन धर्मनो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली' पुस्तक से पढकर उसे अज्ञानता से सत्य मानकर लेखकश्री उछल उछलकर खुद को सपूत बताते है।

उपरोक्त पुस्तक की अप्रमाणिकता और उसमें सं. १६३६ के जिन हस्तपत्रों से वह हकीकत ली है उसकी कूटता की सिद्धि आगे करेंगे। (देखिये 'लोंकाशाह का जीवन' की समीक्षा)

प्रामाणिक इतिहास से तो यह सिद्ध होता है कि वि. सं. १५०८ में लोंकाशाह और वि. सं. १५२४ में कडुआशाह ने जैन धर्म में उत्पात मचाया। और इन दोनों के अनुयायी कहते हैं कि हमारे धर्म स्थापकों ने धर्म का उद्योत किया। अब सर्व प्रथम तो यह सोचना चाहिए कि "भस्मग्रह के कारण उदय उदय पूजा का न होना, श्रमणसंघ के लिए लिखा हैं, जबकी लोंकाशाह और कडुआशाह तो गृहस्थ थे, इनका भस्मग्रह के क्या सम्बन्ध है कि ये भस्मग्रह उतरने के पूर्व ही धर्म का उद्योत कर सकें। परन्तु वास्तव में यह उद्योत नहीं था किंतु उतरते हुए भस्मग्रह की अन्तिम क्रूरता का प्रभाव था, जो इन गृहस्थों पर वह डालता गया। जैसे दीप अंतकाल मे अपना चरम प्रकाश दिखा जाता है, वैसे ही भस्मग्रह भी जाते-जाते एक फटकार दिखा गया।

इधर तो भस्मग्रह का जाना हुआ और उधर श्री संघ की राशि पर धुमकेतु नामक महा विकराल ग्रह का आना हुआ। इन दोनों अशुभ कारणों

से इन दोनों गृहस्थों ने जैनधर्म में भयंकर फूट और कुसम्प डालकर जैनशासन को छिन्न-भिन्न कर डाला, जिसके साथ असंयति पूजा नामक अच्छेरा कां भी प्रभाव पडा कि दोनों ग्रहस्थी असंयति होने पर भी श्रमण-श्रमणीओं की उदय उदय पूजा उडाकर स्वयं को पूजवाने की कोशिश करने लगे ।

तीनों काल में यह असंभव है, कि प्रभु का शासन असयंति से चले और स्थानकवासी अपने को उनकी (लौंकाशाह की) संतान मानते हैं, तभी तो लेखक श्री ने लिखा वैसे "आकाश से टपकने" जैसी ही बात हुई ना ?

कोई पुत्र अपने पितादि को गालियाँ देवें - उनकी आज्ञा न माने और फिर धरोहर पर हक जमाने की कोशिश करें, उसे सपूत कहेंगे या कपूत ? पूर्वाचार्यों की निंदा करना, 'उन्होंने शास्त्र में पाठ घुसेडे, टीकाकारों ने गलत अर्थ किये,' वगैरह मिथ्या आरोप उनपर लगाना और फिर कहना हम उनके सपूत है । लेखक श्री ! आपकी बुद्धिमत्ता की कमाल है ! देखिए लेखक खुद ही पृ. ३२ पर कहते है, "टीका, चूर्णि, निर्युक्तियों में कहां क्या - क्या डाला होगा, इनकी करतूतों को भगवान ही जाने" । है ना ! इस प्रकार पूर्वाचार्यों की निंदा करनेवाले कलिकाल के सपूत !

अभी सिरोही के पटनी को कौन पुछने जावें, वे तो है ही नही ! उनके नाम पर कुछ भी कह सकते है । वह प्रामाणिक नहीं गिना जा सकता ।

लेखकश्रीने पू. पुण्यविजयजी और पू. जंबूविजयजी जैसे, विद्वानों द्वारा मान्य, महापुरुषों पर भी कीचड उछालने में कमी नहीं रखी । दीपरत्नसागरजी के संपादन में बहुत ही गलतियाँ है, वे बिना संशोधित छपवाते है । अतः उनके संपादन विशेष उपयोगी न होने से पू. जंबूविजयजी ने वैसे शब्द कहे हो सकते है । पू. जंबूविजयजी म. का. संपादन और दीपरत्नसागरजी के संपादन में जमीन- आसमान का फर्क है । क्वॉन्टिटी कितनी भी हो, क्वॉलिटी न हो तो उसकी कीमत विशेष नहीं होती है ।

श्रमण संघ के इंदौर सम्मेलन में स्वसंप्रदाय के अनुकूल कुछ नियम बने भी हो तो भी उनका पालन करना अशक्यप्राय है । ऐसे तो पूर्व में भी नियम बने और उड गये । चूँकि स्थापना निक्षेप अनादिसत्य है । उसमें जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती ही है । आप, लोगों को त्रिलोकपूज्य अरिहंत

परमात्मा के स्थापना निक्षेप से दूर करते हो, इसलिए वे गुरुमूर्ति में प्रवृत्ति करते हैं। अपने पिता के फोटों पर पैर रखने की कोई नास्तिक भी प्रवृत्ति नहीं करेगा। यह व्यवहारिक प्रवृत्ति - निवृत्ति ही बता रहे है, प्रभु का स्थापना निक्षेप तथ्य है - अनादिसत्य है - पूजनीय है - वंदनीय है।

आगे लेखकश्री डींगे लगा रहे है - "२००० साल में तुममें एक भी ऐसा विद्वान नहीं हुआ, जिसने ४५ आगमों पर अकेले ने टीका की। स्थानकवासी एक ही आचार्य ने ३२ आगमों पर टीका की।" इससे पाठक खुद ही विचार करें, लेखक को पूर्वाचार्य अपने लगते हैं या पराये ? और सपूत बनने जा रहे है !

सत्य बात तो यह है कि स्थानकवासी आचार्य घासीलालजी ने ३२ आगम पर पूर्व टीकाकार शीलांकाचार्य और अभयदेवसूरिजी के आधार पर स्वकल्पित टीकाएँ रचवायी हैं, जिसमें मन्दिर और मूर्ति संबंधित सत्य शास्त्र पाठों को झुठलाया है। इसलिए स्थानकवासी संत विजयमुनिजी शास्त्री के शब्द ही पढिए -

"पू. घासीलाजी म. ने अनेक आगमों के पाठों में परिवर्तन किया है तथा अनेक स्थलों पर नये पाठ बनाकर जोड दिये हैं। इसी प्रकार श्री पुष्पभिक्षुजी म. ने अपने द्वारा सम्पादित "सुत्तागमे" में अनेक स्थलों से पाठ निकालकर नये पाठ जोड दिये हैं। बहुत पहले गणि उदयचन्दजी म. पंजाबी के शिष्य रत्नमुनिजी ने भी दशवैकालिक आदि में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण पाठ बदले थे। शास्त्रीय परंपरा के अनुसार आगमों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिये। और तो क्या, अक्षर मात्रा तक बदलने पर भी कठोर प्रायश्चित का विधान है।" (अमर भारती दिसम्बर १९७८ पृष्ठ ९४)

देवेन्द्रमुनि शास्त्रीजी ने भी उनकी टीकाओं के लिए लिखा है कि "कई विषयों में पुनरावृत्तियाँ भी हुई है। परम्परा की मान्यताओं को पुष्ट करने का लेखक का प्रयास रहा है। (जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा पृ. ५५१)"

"आगम द्वारा तो मंदिर - मूर्ति की सिद्धि हो रही है, जिससे अनेक स्थानकवासी साधुओं ने असत्य का त्यागकर सत्य मार्ग को अपनाया और आगे

भी ऐसा चलता रहे तो स्थानकवासी मार्ग का क्या होगा ?" इसी उद्देश्य से घासीलालजी ने झूठी टीकाएँ बनायी जो वर्तमान में भी विद्वद्वर्ग में कतई मान्य नहीं है। देखिए **इतिहासवेत्ता विद्वद्वर्य कल्याणविजयजी म.** के. शब्द -

"यों तो अंतिम दो शतियों से जैन श्रमणों में संस्कृत का पठन-पाठन बहुत कम हो गया था, परन्तु बीसवीं शती के उत्तरार्ध में संस्कृत भाषा की फिर कदर होने लगी। बनारस, महेसाणा आदि स्थानों में संस्कृत पाठशालाएँ स्थापित हुई और उनमें गृहस्थ विद्यार्थी पढकर विद्वान हुए, कतिपय उनमें से साधु भी हुए, तब कई साधु स्वतंत्र रूप से पण्डितों के पास पढकर व्युत्पन्न हुए, इस नये संस्कृत प्रचार से अमूर्तिपूजक संप्रदाय को एक नई चिंता उत्पन्न हुई, वह यह कि संप्रदाय में से पहले अनेक पठित साधु चले गये तो अब न जायेंगे, इसका क्या भरोसा ? इस चिंता के वश होकर संप्रदाय के अमूक साधुओं ने अपने मान्य सिद्धांतों पर नई संस्कृत टीकाएँ बनवाना शुरु किया। अहमदाबाद शाहपुर के स्थानक में रहते हुए स्थानकवासी साधु श्री घांसीलालजी लगभग ७-८ साल से यही काम करवा रहे हैं, संस्कृतज्ञ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा आगमों पर अपने मतानुसार संस्कृत टीकाएँ तैयार करवाते हैं, साथ-साथ उनका गुजराती तथा हिन्दी भाषा में भाषान्तर करवा कर छपवाने का कार्य भी करवा रहें हैं; इस प्रकार की नई टीकाओं के साथ कतिपय सूत्र छप भी चुके हैं।" (पट्टावली पराग पृ. ४७५-४७६)

इससे यह भी सिद्ध होता है कि घासीलालजी ने भाडुती ब्राह्मण पंडितों से टीका रचवायी, उसमें उनकी विद्वत्ता कहाँ है ? अपना नाम अन्य के पास रचवायी टीका पर लगाना यह भी अनीति है। यह सत्य हकीकत जानकर लेखकश्री को झूठी डंफासे मारना बंद कर देना चाहिए।

"मूर्तिपूजकों के धर्म की विचारणा" की समीक्षा

इसमें मूर्तिपूजा की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिए लेखक ने एक कुतर्क दिया है। "माता-पिता जीवित हो, परस्पर बहुत प्रेम हो तो भी पुत्र पिता की मूर्ति बनाकर पूजा नहीं करता है।" लेखक श्री को समझना चाहिये कि सामान्य से व्यवहार में विशिष्ट पुरुषों की मूर्तियों की ही प्रचलना है, वह भी बहुलतया मरणोत्तर अवस्था में उनके चिरस्मरण के लिये। बाकी फोटो भी मूर्ति का ही प्रतिरूप है, वह तो उनकी विद्यमानता में भी होते ही है। उस फोटो को माता-पितादि के अचिरकालीन अथवा चिरकालीन अनुपस्थिति में दर्शन-पूजन के लिये उपयोगी मानते ही है। मूर्तिविरोधियों के भी फोटो तो अनेक जगह पर दिखते ही है।

इसलिए उपर के कुतर्क से जो यह सिद्ध करना चाहा है कि "भगवान की उपस्थिति में तो उनका मंदिर और पूजा नहीं थी, अमूर्तिपूजक धर्म ही था।" वह सिद्ध नहीं हो सकता हैं। भगवान के समवसरण में भी भगवान खुद पूर्वाभिमुख ही होते है, अन्य ३ दिशा में उनकी प्रतिकृति ही होती है। 'मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास' के पृ. ११७ से पृ. १९३ तक में मूर्तिपूजा की अतिप्राचीनता के अनेकानेक उदाहरण दिये है, जिज्ञासु वहाँ से देख सकते है। कुछ इस प्रकार है :

१. प्रभास पाटण (गुजरात) में सोमपुरा-ब्राह्मण के पास से ताम्रपत्र मिला, जो दुर्गम्य भाषा में लिखा हुआ था। खुब महेनत से प्रखर भाषा शास्त्री प्राणनाथजी ने उस लेख को स्पष्ट समझा। उस लेख में नेबुचंद्र नेझरने विक्रम पूर्व ६०० यानि भगवान महावीर के जन्म से पूर्व गिरनार में नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा व मंदिर बनवाया ऐसा उल्लेख है (जैनपत्र ता. ३-१-१९३७)

२. मोहनजोद्वारा खोदकाम में ध्यान मुद्रावाली प्रतिमाएँ निकली, जिन्हें पुरातत्त्व विभाग ने संशोधन करके ५००० वर्ष पूर्व की बताई है।

३. बारसी ताकली - आकोला जिले में खोदकाम में २६ प्रतिमाएं मिली, जिन्हें पुरातत्त्वविदों ने ई.पू.६००-७०० वर्ष की निश्चित की है। (सन् १९३६ समाचार पत्र)

४. बौद्ध ग्रंथ महावग्ग १-२२-२३ में, महात्मा बुद्ध सबसे पहले राजगृह में गये। वहां सुप्पतित्थ - सुपार्श्वनाथजी के मंदिर में उतरे थे।

५. पुरातत्त्व के अनन्य अभ्यासी डॉ. प्राणनाथजी का मत है - ई. सन् के पूर्व पांचवी-छट्ठी शताब्दी में जैनियों के अंदर मूर्ति का मानना, ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है। ऐसे अनेक उदाहरणों से भगवान महावीर के पूर्व में भी मूर्तिपूजा थी।

आगे लेखकश्री कोणिक के वर्णन में, एक भी मंदिर का वणर्न नहीं होना, उपासकदशांग में दश-श्रावकों के मंदिर वगैरह बात नहीं होना, वगैरह बातें बता रहे है, वह अज्ञता या कदाग्रह है। आगमकार अशाश्वत चैत्यों का वर्णन कितना करें ? वे कालक्रम से नष्ट होते हैं, अन्य आपत्तिओं से भी नष्ट होते रहते हैं, इसलिए उनका विस्तृत वर्णन नहीं किया है। शाश्वत चैत्यों का आगम में अनेक स्थलों में वर्णन मिलता ही है, विस्तृत वर्णन भी आता ही है।

सामान्य से चैत्य शब्द से जिनमंदिर तो आगमों में भी अनेक स्थानों पर बताये ही है। कोणिक की चंपानगरी के वर्णन में भी मूलसूत्र में 'अरिहंत चेइय जणवय विसण्णिविट्ठ' पाठांतर स्पष्ट है, जो १००० साल पूर्व भी विद्यमान था उस पर टीकाकार ने टीका भी की है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है, कि कोणिक की चंपानगरी में अनेक जिनमंदिर थे। इसकी विशेष जानकारी के लिये देखिये 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' में 'चंपानगरी और अरिहंत चैत्य' की समीक्षा।

समवायांग सूत्र में विषय निर्देश में उपासकदशा में आनंदादि श्रावकों के जिनमंदिरादि बताये हैं। वर्तमान में सूत्र संक्षेपादि कारणों से वे उपासकदशांग में दिखायी नहीं देते। इसकी विस्तृत सिद्धि 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पृ. ११५ से जान लें।

इस प्रकार औपपातिक आदि आगमों में जिनमंदिर के स्पष्ट पाठ होते हुए भी उसके अंट-संट 'टाउन होल' वगैरह अर्थ करना और फिर शोर मचाना, आगम में कही भी जिनमंदिर के पाठ नहीं है, यह इनकी कुनीति रही है। जहां पर पाठ का अर्थ पलटना शक्य ही नहीं, ऐसे अंबड परिव्राजक वगैरह अधिकारों में प्रक्षेप-प्रक्षेप का बकवास करना। अरे ये ! मूर्तिपूजा के द्वेष में

भान भुल जाते है । एक व्यक्ति एक स्थानपर गलत अर्थ करता है तो दुसरे उसी स्थान में प्रक्षेप की कुकल्पना करते है । देखिये गुँजार पुस्तक प. ९ लेखक द्रौपदी अधिकार में कामदेव अर्थ करते है और इनके पुष्फभिक्खु ने सुत्तागमे में द्रौपदी पूजा अधिकार का सारा पाठ प्रक्षिप्त कहकर हटा दिया है । वैसे ही लेखक पृ. १६ पर देवलोक जिनालय में 'जिन' शब्द के अनेक अर्थ की कुकल्पना करके अर्थ बदलते है, वहीं पर पुष्फभिक्खू पाठ उडा देते है । कोई भी तटस्थ व्यक्ति इनकी इस चेष्टा पर मध्यस्थता से विचार करे तो इसमें उसे स्पष्ट ही आगमों का प्रेम नही अपितु साम्प्रदायिक अभिनिवेश - कदाग्रह ही नजर आएगा ।

द्रौपदी को मिथ्यात्वी मानना और कामदेव की पूजा की, यह मानना कदाग्रह ही है । 'जैन कथामाला' पृ. ५९ में इन्हीं के उपा. श्री मधुकर मुनिजी ने और 'तीर्थंकर चरित्र' भाग २ पृ. २९ पर रतनलाल डोसीजी ने स्पष्ट शब्दों में नियाणा करके आये रावण को दिग्विजय के पूर्व ही सम्यक्त्वधारी माना है । अतः शादी से पूर्व द्रौपदी को भी सम्यक्त्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है । यह नियम है ही नही कि नियाणावाले जीव नियाणा पूर्ण न हो तब तक सम्यक्त्व से वंचित रहते है । यह तो स्थानकवासियों का अपने पक्ष की सिद्धि के लिये कल्पना से बनाया नियम है, इन्हीं के ग्रंथों से यह सिद्ध होता है और वह सम्यक्त्वी हुई तो अरिहंत परमात्मा की ही पूजा करेगी, कामदेव की कदापि नहीं । इसके विस्तृत समाधान के लिये 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पृ. १२४ से पृ. १२७ देखिये ।

आगे लेखकश्री आगमकारों ने बतायी शाश्वती जिनप्रतिमाओं का अशाश्वत बनाने की पंडिताई कर रहे है । उनका कहना है "तीर्थंकर शाश्वत नहीं इसलिये वे मूर्तियाँ उनकी नही है, इसलिए उनका जैन धर्म से संबंध नहीं और नमुत्थुणं पाठ करना निरर्थक है ।" परंतु ये महापंडित यह बात तो गुप्त ही रखते है कि वे मूर्तियाँ किनकी है ? और अन्य किसी देव की मानो तो कौन ऐसा देव है जो शाश्वत है ? चराचर सृष्टि में सिद्ध परमात्मा के सिवाय कोई ज़ीव शाश्वत पर्यायवाला नहीं है । वे सिद्ध परमात्मा भी सादि-अनंत भांगे से ही शाश्वत है, जबकि वे मूर्तियाँ तो शास्त्रकारों के हिसाब से अनादि

- अनंत है । तब ये किसकी हो सकती है ? अनादि सिद्ध शाश्वत ईश्वर आगमकारों को तनिक भी मान्य नहीं है । अत: किसी शाश्वत व्यक्ति की ये प्रतिमाएँ नहीं हैं, फिर भी आगमो में ऋषभ-वर्धमान चंद्रानन-वारिषेण ये चार नाम दिये है । अत: आगमकारों को यह बताना है कि तीर्थंकरो के ये नाम प्रवाह से शाश्वत है । जैसे द्वादशांगी अर्थ से शाश्वत है और सूत्र से अशाश्वत है वैसे ।

अत: लेखक कदाग्रह को छोड़कर मार्गस्थ बुद्धि से विचार करें तो ही आगम पाठ का संगमन हो पाएगा । इस चौबीसी में भरतक्षेत्र में प्रथम और चरम ऋषभ और वर्धमान है । ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और चरम चंद्रानन और वारिषेण है । नाम साम्यता स्पष्ट तीर्थंकरों से ही है । और नमुत्थुणं पाठ, पूजनादि सभी तीर्थंकरों की प्रतिमा मानने पर ही संगत होते हैं । तीर्थंकर तो अशाश्वत है, प्रतिमा उनकी शाश्वत कैसे ? इसका मार्गस्थ बुद्धि से उत्तर स्पष्ट है कि शाश्वत नाम बताये है मतलब भरत-ऐरावत-महाविदेह में मिलकर इन चार नाम के तीर्थंकर किसी भी काल में होते ही है । नमुत्थुणं का पाठ भी जिनप्रतिमा के संबंध में ही दिया है और वे प्रतिमाएं अर्चनीय - पूजनीय - पर्युपासनीय है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे प्रतिमाएँ तीर्थंकरों की ही है ।

देवों द्वारा दिवालों, दरवाजों, वावडियों का संक्षेप से पूजन है, तथा नमुत्थुणं से स्तवना भी नहीं है । इसलिए वह पूजन लोक व्यवहार से समझना चाहिये । इसके विशेष विवेचन के लिये देखिये 'मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास' पृ. १५ से पृ. ६७ एवं 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पृ. ७२ से प. ८६ ।

आगे लेखकश्री, मूर्तिपूजा, जैन सिद्धांतो के विपरीत है क्योंकि उसमें फूल-दीप वगरैह एवं नाचना - बजाना वगैरह से जीवहिंसा होती है इत्यादि बातें करते हैं । उनको समझना चाहिये, मूर्तिपूजक साधुओं के चातुर्मास से बढकर, करोडों रुपये के आरंभ - समारंभ स्थानकवासी - तेरापंथी साधुओं के चातुर्मास में होते है । चातुर्मास में भयंकर विराधना करके बस वगैरह से वंदन के लिये जाना, वे कर्तव्य समझते हैं । उसके अलावा मर्यादा महोत्सव - संघ सम्मेलन - चद्दर महोत्सव वगैरह भात-भात के महोत्सव में हजारों की मेदनी

- उनके उतरने की - भोजन की व्यवस्था, क्या बिना आरंभ - समारंभ हो सकती है ? स्थानकवासी साधु भी इनके प्रेरक होते ही है और अपने भक्तों को निषेध नहीं करते इसलिए अनुमोदक भी होते ही है ।

खुद के निमित्त से भयंकर आरंभ-समारंभ में इनको हिंसा नहीं दिखती । परमात्मा के निमित्त से होती नाममात्र की हिंसा में हिंसा-हिंसा का शोर मचाते हैं । यह तो गुड खाना और गुलगुलों से परहेज रखने जैसी बात है ।

यह तो खुब हुआ, लेखक भगवान महावीर के समवसरण में विद्यमान नहीं थे, यदि होते तो हार्ट एटेक आ जाता और शायद जीवित रहते तो गोशाले की तरह विरोधमें चिल्लाये बिना नहीं रहते कि, अरे ! त्यागी, वीतराग पुरुषों को इतने आरंभ और आडंबर की आवश्यकता क्यों ? यदि उपदेश-व्याख्यान देना ही इष्ट है तो महारंभ पूर्वक समवसरण की क्या आवश्यकता है । हाय रे हाय ! इतना पानी छिड़काना, अरे इतने गाडों के गाडे भरे हुए जल थल में उत्पन्न हुए फूलों का बिछवाना यह क्यों किया जाता है । इसके अतिरिक्त एक योजन ऊँचे से पुष्प बरसाने से अनेक वायुकाय के जीवों की विराधना होती है । अरे ! प्रभो ! अग्निकाय का आरम्भ ये धूप बत्तिऐं व्याख्यान में क्यों ? हाय ! पाप, हाय ! हिंसा, अरे ! भगवान् ! ये आपके भक्त इन्द्रादि देव तीन ज्ञान संयुक्त सम्यग् दृष्टि अल्प-परिमित संसारी महाविवेकी, धर्म के नाम पर आपके सामने घोर हिंसा करते हैं, और आप बेठे २ देखते हो, पर इनको कुछ कहते नहीं हो ? इतना ही नहीं पर आप तो इनके रचे हुए समवसरण में जाकर विराजमान हो गये हो ? अतः आप स्वयं इस आरम्भ की अनुमोदना करते हो । तथा धर्म के नाम पर इतनी भीषण हिंसा करने वालों का, आप स्वयं होंसला बढ़ाते हो । प्रभो ! क्या आप यह भूल गये हैं कि भविष्य में कलियुगी लोग इसी का अनुकरण कर, आपका उदाहरण दे बिचारे हम जैसे केवल दयाधर्मियों (ढोंगियों) को बोलने नहीं देंगे ।

अरे ! दयासिन्धो ! आपके प्रत्यक्ष में ये इन्द्रादि देव भक्ति में बेसुध होकर चारों और चँवरों के फटकार लगा रहे है, जिनसे असंख्य वायुकाय के

जीवों की विराधना होती है, फिर भी आप इन्हें कुछ नही कहते हैं, यह बडे आश्चर्य की बात है। हाय ! यह कौनसा धर्म ? यह कैसी भक्ति ? कि जिसमें जीवों की अपरिमित हिंसा हो।

हे प्रभो ! आपको इन लोगों ने मेरु पर ले जाकर कच्चे पानी से स्नान कराया, पर उसे तो हम आपके जन्म-गृहस्थावस्था से संबोधित कर अपना बचाव कर सकते हैं। पर आपकी कैवल्याऽवस्था पर और निर्वाण दशा में भी ये लोग भक्ति और धर्म का नाम ले लेकर इतनी हिंसा करते हैं, उसे आप भले ही सह लें, पर हम से तो यह अत्याचार देखा नहीं जाता। यद्यपि ये लोग चाहे अव्रती अपच्चक्खानी हो, पर आप तो साक्षात् अहिंसा धर्म के अवतार हो, आपकी मौजूदगी में यह इतना अन्याय क्यों ? ये लोग आपके लिये ही वाजा गाजा (दुँदुभी) बजाते हैं। आपले आवाज के साथ में भी शहेनाई के सुर देते हैं फिर भी आप बड़ीशान से मालकोश वगेरह रागरागनिओं को ललकारते रहते हैं इसमें वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है उसका दोष किसके शिर पर है ? क्या आप उन्हें मना नहीं कर सकते ?। तथा आप स्वयं भी, घंटे तक खुले मुँह व्याख्यान दे रहे हैं, तो इसमें क्या वायुकाय के जीव मरते नहीं होंगे ? जबकि एक बार खुले मुँह बोलने में भी असंख्य जीव मरते हैं तो फिर घंटे तक में तो कहना ही क्या ? यदि आप खुद ही खुले मुँह बोलोंगे तो पंचम आरे के पामर प्राणी तो निःशंकतया खुले मुँह ही बोलेंगे। और कोई कहेगा तो आपका उदाहरण देकर अपना बचाव कर लेंगे, फिर दयाधर्मियों की तो सुनेगा ही कौन ?। यदि आपके पास वस्त्र का अभाव हो तो, लीजिए मैं सेवा में वस्त्र लादूं पर आप खुले मुँह तो कृपया व्याख्यान मत दो। यदि आप इतना कुछ कहने सुनने पर भी मुँहपत्ती नहीं बान्धोगे तो अच्छे आप तीर्थङ्कर हो पर मैं तो आपका व्याख्यान कभी नहीं सुनूंगा। कारण मेरी यहि प्रतिज्ञा है कि जहाँ एक शब्द भी खुले मुँह बोला जाये वहाँ ठहरना भी अच्छा नहीं। आपको अपनी प्रतिमा बनवाना भी पसंद है अतः एव समवसरण में दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के सिंहासन पर आपकी ही ३ प्रतिमा बनवा कर बैठाई जाती है। आप वहाँ मना तक नहीं करते हैं इसके विपरीत आप उन मूर्तियों की सेवा पूजा और दर्शन करने में भी धर्म बताते हैं। क्या

आपको अपनी प्रतिमाएँ इष्ट हैं ? उफ् ! वीतराग होने पर भी आप मूर्तिपूजकों के पक्ष में जा बैठे ? अब हमारी दया की पुकार कौन सुने?

इत्यादि अनेक कल्पना लेखकके दिल में होती, पर खुशी इस बात की है कि लेखक महावीर प्रभु के समय पैदा ही नहीं हुए ।

'एक मंदिर बनानेवाला या एक मंदिर की नीव में ईंट डालनेवाला एक भव में मोक्ष में जाता हैं' ऐसी प्ररूपणा कोई करता ही नहीं है । इस प्रकार उटपटांग झूठे आरोप घडने से लेखक की योग्यता प्रकट होती है ।

आगे लेखक आचारांग प्रथम अध्ययन में जो लोग धर्म-मोक्ष के लिए छ:काय की हिंसा करते है, वह अहितकारक - बोधिदुर्लभता का कारण होती है, वगैरह लिखते है । उसका संबंध मूर्तिपूजा से जोडना चाहते हैं, वह अयोग्य है । आचारांग सूत्र की टीका में स्पष्ट अर्थ किया है, कि कार्तिकेय को वंदनादि, ब्राह्मणादि को धर्मबुद्धि से दान, कुमार्ग उपदेश से हिंसा में प्रवृत्ति, दुर्गादि के सामने बली, पंचाग्नि तप वगैरह क्रिया में प्रवृत्त होना अहितकर, अबोधि का कारण है । मतलब वहाँ सब मिथ्यात्व की क्रियाएं ही बतायी है । अगर यह नहीं मानो तो, साधु को वंदन करने जाना, कबुतर को चुग्गा - गाय को घास वगैरह अनेक क्रियाओं में हिंसा होती है, जिन्हें स्थानकवासी लोग भी धर्मबुद्धि से ही करते है, उन्हें भी अबोधि का कारण मानना पडेगा । इसलिए स्पष्ट होता है कि श्रावकों के लिए विहित ऐसी जिनपूजा में यह बात लागु नहीं होती है । लेखक खुद साधुओं की यतनापूर्वक की गमनागमन क्रिया में हिंसा होते हुए भी पापकर्म बंध नहीं होना कहते है, जबकि जिनपूजा में भी अनेक प्रकार की यतनाएँ होते हुए भी उसके समकक्ष मंदिर मूर्ति को जोडना स्वीकार नहीं करते हैं, यह केवल मताग्रह है । पूर्वधर उमास्वातिजी वगैरह महापुरुषों ने उसी प्रकार श्रमणोपासक के लिये द्रव्यस्तव बताया है, उसे ये डेढ होंशियार बुद्धि का दिवाला कहते है । पू. उमास्वातिजी म. श्रावकप्रज्ञप्ति गाथा नं. ३४६ में एवं पू. हरिभद्रसूरिजी म. चतुर्थ पंचाशक महाग्रंथ में कहते हैं - "शरीरादि सांसारिक और दुसरे धार्मिक कार्यों मे अनेक प्रकार से जीवहिंसा करते हुए भी कल्याणकारी जिनपूजा में हिंसा का बहाना निकालकर प्रवर्तन नहीं करना वह मूर्खता है । अब पाठक विचारें किसकी

बुद्धि का दिवाला है ।

आगमोक्त श्रावकों की पौषधशाला उनके बडे-बडे मकानों का ही एक विभाग था, जो आवश्यक था । अभी तो स्थानकादि अलग से बनते है और धर्महेतु ही बनते है, तो लेखक उसे आचारंग सूत्र के हिसाब से अहितकारक - अबोधिजनक मानेंगे ? अगर नहीं तो वीतराग परमात्मा के मंदिर में ही आपको वह क्यों नजर आता है ? कैसी पापबुद्धि ? अगर स्थानकों को अबोधिजनक मानते है तो, उसमें आपके साधुओं की डायरेक्ट या इनडायरेक्ट प्रवृत्ति - उपदेश अनुमोदना कैसे ? दान देनेवालों की भाग्यशाली, पुण्योपार्जन करनेवाले वगैरह विशेषणों से तख्तियाँ कैसे ? यह तो हाथी के दांत दिखाने के अलग और खाने के अलग वाली बात हुई ।

आरंभ - समारंभ से छपनेवाली धार्मिक पुस्तकों में ज्ञानगच्छ जैसे कट्टरपंथी भी दानवीर की प्रशंसा, उनकी नामावली - उनको धन्यवाद वगैरह करते है, तो सभी, आचारांग सूत्र के हिसाब से इन प्रवृत्तियो से भवभ्रमण करेंगे, यह लेखक मानते है क्या ? अगर नहीं तो अरिहंत परमात्मा से ही इतना द्वेष क्यों ?

आगे लेखक "अनगिनत मंदिर मूर्तियाँ जोड दी गई है । कई खोटे शिलालेख बनाने के पाप भी करने पडे और उन्हें जमीनमें गाढ-गाढकर कहीं से खुदाई में निकालना बताकर अपने मन को झूठे इतिहासों से ही संतुष्ट करने लगे ।" ऐसी उटपटांग बाते लिखते है, जो विद्वत्सभा में हास्यास्पद हो जाती है । स्थाकनवासी पंथ को ३५० साल और लौंकाशाह को करीब ५५० साल हुए, उसके पहले मूर्तिपूजा का विरोध जैनधर्म में था ही नहीं, उसके पहले की सेंकडों प्रतिमाएँ, शिलालेख निकल रहे है । जिन्हें प्रामाणिक ऐसे अंग्रेज और अन्य धर्मी विद्वानों ने भी प्रमाणित किये है । इस वैज्ञानिक युगमें अनेक परीक्षणों से जाँचकर विद्वान जाहिर करते है। उनके परीक्षणों से जाहिर की गई अनेक अतिप्राचीन मूर्तियाँ, शिलालेखों को काल्पनिक कहना सत्य को कलंकित करना है ।

अनेकबार ऐसे लेख - शिलालेखों का प्राचीन इतिहासकारों के इतिहास से संवाद मिलता है, जिससे इतिहास की नयी कडियाँ खुलती है । अनेक बार

हिंदु बौद्ध आदि ग्रंथों के इतिहास से भी उनकी सच्चाई की सिद्धि होती है। ऐसे सभी लेख-शिलालेखों को जाली कहना, सूर्य के सामने धूल उडाने जैसी मूर्खता है।

ऐसे ही एक उदयगिरि - खंडगिरि का शिलालेख जिसकी लिपी - भाषा की अनभिज्ञता के कारण विदेशी और भारतीय पुरातत्त्वज्ञों ने १०० साल तक पूर्ण परिश्रम करके १०० साल के बाद सर्वमान्य निर्णय करके निष्कर्ष निकाला कि कलिंग पर आक्रमण करके, मगधेश श्रेणिक महाराजा द्वारा सुवर्णमय आदिनाथ भगवान की प्रतिमा स्थापित की जिसे कालांतर में नंदवंशी राजा मगध ले गया, महाराजा खारवेल ने मगध पर चढाई करके वहाँ के पुष्यमित्र राजा को हराकर वह प्रतिमा वापस लायी।" विस्तृत जानकारी के लिए देखिये - 'मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास' पृ. १२३ से पृ. १२९ ऐसे महाविद्वानों ने मेहनत करके प्रकट किये सत्य का इन्कार करने से वस्तु की सत्यता मिटती नहीं है।

मूर्तिविरोधी - मूर्तिभंजक मूगलादि आक्रमणों से बचाने के लिये हजारों मूर्तियाँ जमीन में गाढी गई थी, जो अतिप्रसिद्ध है। इसलिए खुदाई में निकल रही है। गाढने और निकालने की कपोल कल्पित कल्पना तभी हो सकती है, जब एक ही व्यक्ति दोनों क्रियाएँ करता हो। ऐसी उम्रवाला कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता है और न तो कोई विश्वभर में घुम-घुम कर अनेक अज्ञातस्थलों में मूर्ति आदि गाढ सकता है।

आगे लेखक कल्पसूत्र - महानिशीथ सूत्रों को उटपटांग कहकर उनके ही आधार पर अपने कुमत की सिद्धि करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह तो जिस डालपर बैठे उसी को काटने की चेष्टा है, ऐसा मूर्ख के सिवाय और कौन कर सकता है ?

कल्पसूत्र का खुलासा इसी पुस्तिका में अन्यत्र आ गया है।

महानिशीथ के पाठ का लेखक ने सरासर झूठा अर्थ किया है। पूर्व के 'संदर्भ को छोडकर लेखक ने जान-बुझकर भोले - अनपढ लोगों को फसाने हेतु मायाचारिता से 'जिनमंदिर सावद्य है।' ऐसा अर्थ किया हैं। महानिशीथ के पाठ की संक्षिप्त भूमिका इस प्रकार है - अनंत चोवीसी के पूर्व धर्मसीरी

तीर्थंकर के निर्वाण बाद असंयति पूजा नामक अच्छेरा हुआ। उसमें साधु - शिथिलाचारी - असंयति जैसे बने उनका जोर खुब बढा। मंदिर में पूजा-अर्चा (जो श्रावकों का कार्य है) खुद करने लगे मंदिर में रहने लगे, देवद्रव्य का भक्षण वगैरह अनाचार में प्रवृत होने से चैत्यवासी कहलाए। उस जमाने में कुवलयप्रभ नामके सुविहित आचार्य चैत्यवासियों के वहां आये, उनका उपदेशादि का प्रभाव देखकर चैत्यवासियों ने आप यहीं पर चातुर्मास करेंगे, तो आपके उपदेश से चैत्य बन सकेंगे" यह विनंति की। तब उन्होंने स्पष्ट जवाब दिया, 'जहवि जिणालये, तहा वि सावज्जमिणं णाहं वायामित्तेण एवं आयरेज्जा' मतलब 'जिनालय' का कार्य होने पर भी (इसमें वास्तविक दोष न होने पर भी) आपके इस स्थान में जिनालय का उपदेश सावद्य है क्योंकि यहां पर जिनालय बनने से आपका शिथिलाचार का प्रचार बढेगा। इसलिए वाणी से भी मैं यह आचरण नहीं करुँगा ऐसे स्पष्ट जवाब से तीर्थंकर नामकर्म का बंध करके संसार को एक भव प्रमाण किया। आगे पीछे के प्रकरण से उपर के पाठ का यह स्पष्ट अर्थ होते हुए भी इस प्रकार बेईमानी करना सज्जनता नहीं है।

आगे की गयी महानिशीथ की १२५० वर्ष बीतने पर कुगुरु की बात उस काल में हुए शिथिलाचारी - चैत्यवासी साधुओं को ही लागु होती है।

दूसरे मंदिरमार्गी संविग्न साधु भी उस वक्त बहुत थे। अत: उस वक्त के सभी साधु कुगुरु कोटी में नहीं आते है। और इसी पुस्तिका में लेखक के बताये अनुसार इनका पंथ नया उत्पन्न हुआ है अत: भगवती सूत्र के कथन से वह भगवान का मार्ग नहीं हो सकता है चूंकि भगवतीजी में प्रभु के शासन का २१००० वर्ष अविच्छिन्न चलना लिखा है। अत: महानिशीथ के पाठ से उपसायी इनकी कुकल्पनाएँ धूल में मिल जाती है।

आगे लेखकश्री जैनागमों से सिद्ध, अनेक जैन-जैनेतर शब्दकोशों से सिद्ध, व्याकरण से सिद्ध, 'चैत्य' शब्द का 'जिनप्रतिमा - मंदिर' अर्थ झुठलाने के लिए चैत्य शब्द की चर्चा करते है।

उनका कहना है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, वैसे चैत्य के भी अनेक अर्थ होते है। यह बात ठीक है, परंतु शब्द के जो अर्थ व्याकरण-कोश-

रुढी से सिद्ध होते है, वे ही प्रामाणिक गिने जाते हैं, काल्पनिक अर्थ नहीं। अनेक अर्थ में भी प्रकरण के अनुरुप अर्थ ही ग्रहण किये जाते है। भोजन करते समय सैंधव मांगे तो घोडा लावें, युद्ध में सैंघव मांगे वहाँ नमक ले आवे, वह नहीं चलता है। वैसे ही जैनागमों में चैत्य के अर्थ जिनप्रतिमा - मंदिर अभिप्रेत हैं, वहां उटपटांग ज्ञान-साधु आदि अर्थ करना, अयोग्यता - मताग्रह को सूचित करता है।

आगमशैली में ज्ञान के लिये 'णाण', नाणी - अन्नाणी प्रयोग सेंकडों स्थलों में आये हैं। एक भी स्थल में केवल ज्ञान, अवधिज्ञान आदि के लिये केवल-चेइय, अवधि-चेइय वगैरह प्रयोग दिखायी नहीं देता है। यही सूचित करता है कि शास्त्रकारों को 'चेइय' का 'ज्ञान' अर्थ अभिमत नहीं है। केवल भगवती सूत्र में एक सौ से अधिक स्थल में इसके प्रयोग की सूची के लिये देखिये - 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पृ. २८१ से पृ. २१५ और उसीमें पृ. १६९ से पृ. १७२ 'चैत्य शब्द की चर्चा'। यहाँ पर ज्यादा विस्तार नहीं करते है।

अनेक जगह पर चैत्य शब्द संबंधी विस्तृत चर्चाएँ भूतकाल में हो चुकी हैं। जिज्ञासु देखें-

मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास पृ. ६८ से पृ. १२३

पट्टावली पराग पृ. ४५५

'मूल जैन धर्म अने हालना संप्रदायो' पृ. ११२ (लेखक स्थानकवासी पंडित नगीनदास शेठ ।

चैत्य शब्द प्रक्षेप के मिथ्या आरोप के लिये देखें इसी पुस्तिका में 'णमोत्थुणं पाठ प्रक्षेप की समीक्षा' प्रकरण।

रायपसेणी सूत्र में बतायी हुई शाश्वती प्रतिमा की चर्चा पीछे कर गये, अभी पिष्टपेषण नहीं करते है। शास्त्रों के मनगढंत, काल्पनिक अर्थ करके संसार वृद्धि करना इनकी परंपरा से चला आ रहा है। वैसे ही जिन का 'अनेक जाति के देव' अर्थ कर रहे है। लेखक को अरिहंत परमात्मा से कितना द्वेष है ? जहां आगमकारों को 'जिन' से अरिहंत इष्ट है, वहां अन्य जाति के देव अर्थ कर रहे हैं। तीर्थंकर शाश्वत नहीं तो क्या अन्य जाति के देव शाश्वत है ? आगमकार अन्य जाति के देवों का इतना चढाकर वर्णन क्यों करें ? अन्यों

को मिथ्यात्व के लिये प्रेरित क्यों करें ? जरा शांति से विचार कीजियेगा !

आगे ये लिखते है - "शाश्वत स्थानों में मूर्ति या सिद्धायतन का होना ही असंभव है" मतलब हम स्थानकवासी मूर्ति-मंदिर नही मानते, इसलिए वे शाश्वत स्थानों में संभव नहीं है ! कितनी हास्यास्पद बात है ! आपके नहीं मानने से क्या शाश्वत वस्तुस्थिति बदल जाएगी ?

आगे फिर लेखक आगम में सिद्धायतन, शाश्वत जिन वगैरह अनेक पाठों के प्रक्षेप की कुकल्पना करते है । यह तो बाल निकालने की जगह मस्तक को ही काट लिया ! आप कौनसे अतिशायी ज्ञान से उन पाठों को प्रक्षिप्त बता रहे हैं । केवल अपनी कुकल्पना से अनेक पाठों को प्रक्षिप्त कहने जाओगे तो दिगंबरो के पक्ष में ही बैठ जाओगे । वे इसी प्रकार की कुकल्पनाओं से आगमविच्छेद मानते हैं । .

हजार साल की अनेक प्राचीन हस्तप्रतियाँ, चैत्यादिके पाठों की प्रामाणिकता सिद्ध कर रही हैं । १००० साल पूर्व के टीकाकारों के सामने एवं उससे भी प्राचीनकालीन निर्युक्ति आदि सबके सामने ये ही पाठ थे, तभी तो उन पर विवेचन शक्य है । अतः प्रक्षेप की बात केवल बकवास मात्र है ।

दुसरी बात आप भी पुप्फभिक्खू के ही भाई हो, जिन्होंने आपके जैसी कल्पना करके अपने कुमतको प्रचार में विघ्नभूत सभी पाठ उडाकर आगम छपवाये । परंतु उस वक्त स्थानकवासी श्रमणसंघ समिति ने सर्वानुमति से ठराव पास कर उसे अप्रमाणिक घोषित किया । ये सब बातें इसी पुस्तिका में 'णमोत्थुणं पाठ प्रक्षेप की समीक्षा प्रकरण में देखे । अतः प्रक्षेप की बातें सब आकाशकुसुम समान निरर्थक है ।'

देखिये ! निष्पक्ष इतिहासवेत्ता पं. कल्याणविजयजी म., पाठ प्रक्षेप के लिये क्या कह रहे हैं ।

"आगमों में बनावटी पाठ घुसेड देने की बात कही है, वह भी उनके हृदय की भावना को व्यक्त करती है । यों तो हर एक आदमी कह सकता है कि अमुक ग्रन्थ में अमुक पाठ प्रक्षिप्त है, परन्तु प्रक्षिप्त कहने मात्र से वह प्रक्षिप्त नहीं हो सकता, किन्तु पुष्ट प्रमाणों से उस कथन का समर्थन करने से ही, विद्वान लोग उस कथन को सत्य मानते हैं । संपादक (पुप्फभिक्खू) ने

बनावटी पाठ घुसेडने की बात तो कह दी, पर इस कथन पर किसी प्रमाण का उपन्यास नहीं किया । अत: यह कथन भी अरण्यरोदन से अधिक महत्व नहीं रखता, आगमों में बनावटी पाठ घुसेडने और उसमें से सच्चे पाठों को निकालना यह तो भिक्षुत्रितय के घर की रीति परम्परा से चली आ रही है ।" (पट्टावली पराग पृ. ४६४)

"मुखवस्त्रिका वार्ता" की समीक्षा

इस प्रकरण में कोई सार नहीं है । पाठक, मुहपत्ति की अनेक प्रमाणों से विस्तृत सिद्धि के लिये मणिसागरजी म.सा. का. कोटा से प्रकाशित "आगमानुसार मुहपत्ति का निर्णय" ग्रंथ देख लें । लेखक कहते हैं ८००० साधु-साध्वी में एक भी उदाहरण नहीं कि जिसने पूरे दीक्षाकाल में कभी भी खुले मुंह नहीं बोला हो" और उससे ये निर्णय देते हैं कि मुँहपर बांधने का सिद्धांत सही है । उनको अपने निर्णय को बदलना होगा, क्योंकि ऐसे भी अप्रमत्त साधु है जो संपूर्ण दीक्षाकाल में कभी भी खुले मुँह नहीं बोले । अत: मुंहपर बांधने से होते प्रमाद का पोषण और अन्यलिंग के दोष (मुंहपर हंमेशा मुहपत्ति बांधना मुनिलिंग नहीं है) से बचना चाहिये ।

इसमें लेखक ने अनेक गलत प्रमाण दिये है । उनका समाधान यह है

(१) हरिभद्रसूरि आवश्यक टीका के नाम से लेखक ने गप्प लगायी है।'

आवश्यक टीका में चिह्न के लिये रजोहरण, मुहपत्ती, चोलपट्टक मृतक के पास रखने की बात है । चिह्न नहीं करें तो, कोई राजा साधु का मृतक देखकर किसी ने साधु को मारा ऐसी शंका से ग्रामघात कर सकता है । अथवा साधु मरकर व्यंतरादि योनि में जाने पर अन्य लिंगवाले मुनिलिंग रहित अपने मृतक को देखकर मिथ्यात्व दशा प्राप्त कर सकता है । चिह्न को पास में देखकर राजा को कुशंका नहीं होवे और देव को भी 'मैं जैन साधु था' ऐसा खयाल आवे, इसलिए चिह्न स्वरुप मुहपत्ती, रजोहरण पास में रखने की विधि बतायी है । इससे तो मुहपत्ती पास में रखना यही लिंग सिद्ध होता है । पाठ इस प्रकार है :

"चिणहट्ठा उवगरण दोसा उ भवे अचिंधकरणम्मि ।
मिच्छत्त सो व राया व कुणह गामाण वहकरण ॥५३॥"

टीका : परिठ्ठविज्जंते अहाजायमुवगरणं ठवेयव्वं - मुहपोत्तिया, रयहरणं चोलपट्टो य ।

इसी टीका में मृतक को रात में रखना पडे तो मुहपत्ती बांधने का कहा है, वह मुँह में जीव-जंतु प्रवेश न करें, दुर्गंध आदि से रक्षा वगैरह के लिए समझना ।

आवश्यक निर्युक्ति और टीका में काउस्सग्ग मे मुहपत्ती दाहिने हाथ में और रजोहरण बायें हाथ में रखने का स्पष्ट उल्लेख है, उससे सिद्ध होता है कि जब बोलने की आवश्यकता नहीं तब मुहपत्ती मुख के आगे रखनी नही है अपितु हाथ में रखनी है - पाठ इस प्रकार है -

चउरंगुल मुहपत्ती उज्जूए डब्बहत्थ रयहरणं । वोसट्टचत्तदेहो काउस्सग्गं कहिज्जाहि ॥१५४५

टीका - मुहपत्ति उज्जुए 'त्ति' दाहिण हत्थेण मुहपोत्तिया घेत्तव्वा, डब्बहत्थे रयहरणं कायव्वं ।

योगशास्त्र के पाठ में मुहपत्ती से जीव रक्षा की ही बात है । उससे मुंहपर बाँधे रखना, सिद्ध नहीं होता है, बल्कि उसमें हाथमें मुंहपत्ति रखने के कई पाठ है ।

जैसेकि योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश, वंदन अधिकार में इस तरह बताया है :

"तत्र प्रसवकाले रचितकरसंपुटो जायते प्रव्रज्याकाले च गृहीतरजोहरणमुखवास्त्रिक इति यथा जातमस्य स यथाजातः तथाभूत एव वन्दते इति वन्दनमपि यथाजातम् ।"

इसमें दीक्षा के समय दोनों हाथों से रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को ग्रहण करने का बताया है एवं उसी तरह वंदन के समय भी दोनों हाथों में रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका को ग्रहण करके रखना वह वंदन के अंतर्गत "यथाजातम्" आवश्यक कहलाता है ।

तथा इसी योगशास्त्र में वंदन विषयक पूर्वाचार्यो की गाथाएँ उद्धृत की गयी है, जिनमें से मुंहपत्ति हाथमें रखने का स्पष्ट रूप विधान है । वे गाथाएँ इस तरह हैं :-

वामंगुलिमुहपोत्तीकरजुयतलतलत्थजुत्तयहरणो ।
अवणिय जहोत्तदोसं गुरुसमुहं भणइ पयडमिणं ॥४॥
वामकरगहिअपोत्तीएगदेसेण वामकन्नाओ ।
आरभिऊणं णडालं पमज्ज जा दाहिणो कण्णो ॥८॥
अव्वोच्छिन्नं वामयजाणुं नसिऊण तत्थ मुहपोत्तिं ।
रयहरणमज्झदेसम्मि ठावए पुज्जपायजुग ॥९॥

तथा इसमें मुंहपत्ति से बायें कान से लेकर ललाट को पूंजते हुए दायें कान तक पूंजकर मुंहपत्ति को बायें घुंटने पर रखना बताया है ।

मुंहपत्ति हाथ में रखने से ही कान ललाटादिक की प्रमार्जना करके जीवदया पाल सकते हैं, परंतु हंमेशा मुंहपत्ति बंधी हुई होवे तो मुहंपत्ति से प्रमार्जना नहीं हो सकती उससे जीवदया भी नहीं पल सकती । इसलिए मुंहपत्ति बांधना सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है ।

जैन आचारों से अनभिज्ञ अंग्रेज का कहना कोई महत्व नहीं रखताहै । टीकाकार - पूर्वाचार्यों के वचन प्रामाणिक गिने जाते हैं ।

आगम के मूलसूत्र से भी मुहपत्ती बाँधते नहीं थे, यह सिद्ध होता है । विपाकसूत्र में मृगावतीने गौतम स्वामीजी को मुंह बाँधने का कहा है, अगर बंधा हुआ ही होता तो क्यों बांधने का कहती ? इस प्रकार मूल आगम से मुहपत्ती मुंह पर नहीं बांधनी सिद्ध है । तो भी "मुखवस्त्रिका हाथ में रखना या मुँह पर बांधना ऐसा एक भी स्पष्ट पाठ आगम में नहीं है" ऐसे झूठे गप्पे लगाते है ।

४. देवसूरि सामाचारी प्रकरण ग्रंथ में रजोहरण प्रतिलेखन करते वक्त मुँह पर मुहपत्ती बांधने का लिखा है, ऐसा लेखक कहते है, उससे तो स्पष्ट सिद्ध होता है, उसी वक्त मुंह बांधना, उसके अलावा नहीं बांधना ।

५. सेनसूरिजी ने हितशिक्षा पाठ में कहा है, वह बराबर ही है उससे भी मुह बांधने की सिद्धि नहीं होती है । उन्होंने स्पष्ट स्थानकवासी साधु की वेशभूषा बताकर मुख बांधे ते मुखपत्ती न आवे पुण्य के काम' यानि मुहपत्ती बांधने से पुण्य नही होता है ऐसा कहकर बांधने का निषेध ही किया है।

६. हरिबलमच्छी रास पृ. ७३ के पाठ में भी व्याख्यान के समय मुहपत्ती बांधनी और साधु विधि प्रकाश में प्रतिलेखना करते समय मुहपत्ती बांधनी कहा है । उससे स्पष्ट होता है कि उसके अलावा न बांधे, अगर ऐसा न हो और बंधी हुई हो तो उस समय बांधने की क्यों लिखते ?

८. यतिदिनचर्या में शौचादि समय मुहपत्ती बांधनी, दुर्गंध से नासिका में अर्शादि रोगों से बचने आदि के लिए बतायी है उसे उनकी सामाचारी समझना । वही पर बांधनी, मतलब उसके अलावा हमेशा नहीं बांधना सिद्ध होता है।

९. योगशास्त्र वृत्ति में पढने - प्रश्न पुछते वक्त पुस्तकादि हाथ में होने से मुहपत्ती का उपयोग रखने में दुविधा होने से मुहपत्ती बांधना लिखा है वह भी योग्य है उसके अलावा नहीं बांधना स्वतः सिद्ध होता है ।

१०. शतपदी में उपदेश देते समय मुहपत्ती बांधना कहा है, वह भी बराबर है पहले प्रवचन शास्त्र के आधार से ही देते थे, हाथ में शास्त्र हो तो मुहपत्ती के उपयोग में दुविधा आने से बांधना कहा है । उसके अलावा नही बांधना सिद्ध होता है । वर्तमान में नाजुक कागजवाली ताडपत्तियां, हस्तप्रत शास्त्र हाथो में रखते नहीं है, अतः बांधने की जरुरत नहीं, परंतु केवल बोलते समय मुहपत्तिका उपयोग रखने की जरुरत रहती है ।

११. आचार दिनकर में वसति प्रमार्जन और वाचना में मुहपत्ती बांधना लिखा है । वसति प्रमार्जन में धुल आदि नासिका में न जावें इत्यादि सुरक्षा के लिये । वाचना का कारण उपर की तरह । उसके अलावा नहीं बांधना सिद्ध होता है ।

१२. बृहत्कल्प भाष्य का पाठ गणधर व्याख्यान वांचते मुहपत्ती बांधना लिखा है, वह कोरी गप्प है । पाठ देना चाहिये । असत्कल्पना से मान भी ले,

तो भी उसके अलावा नहीं बांधना सिद्ध होता है ।

१३. निशीथ चूर्णि - वार्तालाप में मुँह बांधने की बात भी कोरी गप्प है । पाठ देना चाहिये ।

१४. एक भी प्रतिक्रमण ग्रंथ में प्रतिक्रमण समय मुहपत्ती बांधने की बात नहीं है । मुहपत्ती पडिलेहण की बात आती है ।

१५. प्रवचन सारोद्धार में संपातिम जीवों की रक्षा के लिये मुहपत्ती बांधनी नहीं लिखी है, बल्कि बोलते समय जीवरक्षा के लिये मुहपत्ती का उपयोग करना, यह भाव है ।

१६. बुद्धि विजयजी को वृद्ध संत ने उत्तर दिया, वह व्याख्यान के समय मुहपत्ती बांधने की बात है । हमेशा के लिये नहीं ।

१७. शिवपुराण पाठ का धारण करने का अर्थ बांधना नहीं अपितु बोलते वक्त उसे मुँह पर धारण करना है । जो शिवपुराण के दुसरे पाठ से ही स्पष्ट है ।

वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं, क्षिप्यमाणं मुखे सदा । धर्मेति व्याहरंन्तं, नमस्कृत्य स्थितं हरे ।। ।। शिवपुराण, ज्ञानसंहिता, २९ वां अध्याय, श्लोक नं. ३११ ।। इस शिवपुराण के श्लोक में स्पष्ट वस्त्रयुक्त (मुहपत्तीवाले) हाथ को (बोलते समय) मुखपर रखते और धर्मलाभ बोलते, ऐसे जैन साधु का वर्णन किया है । इस प्रकार जैनेतर ग्रंथो से भी मुहपत्ती हाथ में रखने की ही सिद्धि होती है।

इस प्रकार सभी प्रमाणों के परीक्षण से स्पष्ट होता हैं कि लेखकने जो प्रमाण मुहपत्ती बांधने के दिये है वे सभी सारे दिन मुहपत्ती नहीं बांधने की सिद्धि कर रहे है । अत: "प्राचीन पद्धति मुँह पर बांधने की ही थी, यह प्राचीन प्रमाणों सिद्ध होता है" यह लेखक का कथन सरासर मिथ्या सिद्ध होता है । डोरे से मुंहपत्ती बांधना तो शास्त्रों में कहीं पर भी नही बताया है ।

२००० वर्ष प्राचीन कंकाली टीला (कृष्णर्षि की मूर्ति), ओसियाजी, कुंभारियाजी, आबु, राणकपुर, पालीताणा, सांडेराव, सेवाडी आदि अनेक स्थलों में ५००-७००-१००० वर्ष प्राचीन सभी गुरुमूर्तियां हाथ में मुंहपत्तीवाली मिलती हैं । एक भी प्राचीन मूर्ति मुँह बंधी नहीं मिलती है । इससे भी

मुहपत्ती हाथ में रखना ही सिद्ध होता है । आवश्यकतानुसार बोलते वक्त उसका उपयोग रखने से अप्रमत्तता भी रहती है । और साधु का लिंग भी वही है । हंमेशा बांधी रखना कुलिंग है ।

विद्वान संत संतबालजी नीडरतापूर्वक कहते है - "मुखबंधन श्री लोंकाशाह ना समयथी शरु थयेल नथी परंतु त्यार बाद थयेला स्वामी लवजी ना समय थी शरु थयेल छे अने ए जरुरी पण नथी" (जैन ज्योति ता. १८-५-१९३६ पृ. ७२ राजपाल मगनलाल बोहरा का लेख))

तेरापंथ के आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी स्पष्ट खुलासा दिया है कि "जैन परम्परा में मुखवस्त्रिका बांधने का इतिहास पुराना नहीं है । यह स्थानकवासी परंपरा से शुरु हुई है । मुनि जीवेजी आदि के समय से शुरु हुआ है ।

किंतु एक परंपरा के चलने का अर्थ यह नहीं कि हम पुराने अर्थों को ठीक से न समझें । हमें पुराने अर्थों को भी ठीक से समझना हैं । हस्तक से शरीर का प्रमार्जन करें । हस्तक का अर्थ है मुखवस्त्रिका । मुखवस्त्रिका मुंह पर बांधने का अर्थ नही है । मुखवस्त्र यानी रुमाल, जब मुनि प्रतिलेखन करें तो उस रुमाल या कपडे से पहले पूरे शरीर का प्रमार्जन करें । मुखवस्त्रिका से कैसे शरीर का प्रमार्जन करेंगा ? यही सोचने की बात है । 'हत्थगं संपमज्जिता' प्रतिलेखन की विधि है कि उससे पहले पूरे शरीर का, सिर से पैर तक हस्तक से प्रमार्जन करें । अब कैसे करेगा ? हम जो सही अर्थ है, उसे समझ नही पाते, इसलिए रुढियां पनपती है । मुखवस्त्रिका का अर्थ मुंह पर बांधने की पट्टी नहीं । आगम में कही भी बांधने का उल्लेख नहीं है ।"

(तत्त्वबोध से साभार उद्धृत ता. ०१/०३/०४ सितंबर २००७)

लेखक ने बताये ३ गुण तो हाथ में रखने से भी शक्य है ही, चौथा अप्रमत्तता गुण भी बढता है ।

मुंहपत्ती विषयक कई बार शास्त्रार्थ भी हुए, पर स्थानकवासी भाई पराजय हो जाने पर भी अन्य स्थान पर जाकर कह देते हैं कि "शास्त्रार्थ में क्या धरा है ? हम करते हैं, वह शास्त्रनुसार ही करते हैं ।" पर जहाँ ऐसे विषय

में सत्ताधारी नरेश या पंडित मध्यस्थ न हों, वहां जय पराजय का सम्पूर्ण निर्णय नहीं हो सकता है । पर एक समय ऐसा अवसर मिल गया कि न्यायशील नाभा (पंजाब) नरेश की राजधानी नाभा में इधर जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी (उस समय के मुनि श्री वल्लभ विजयजी महाराज) उधर स्थानकवासी पूज्य सोहनलालजी म० अपने विद्वान शिष्य मुनि श्री उदयचन्दजी के साथ नाभा में पधार गये । इन दोनों महात्माओं के आपसी प्रश्नोत्तर का कार्य नाभा नरेश की राज सभा के पण्डितों पर रख दिया गया जिसमें जय पराजय का निर्णय नाभानरेश के माध्यम से उनकी सभा के विद्वान पण्डित करें । बस ! उन्होंने जो फैसला दिया उसको अक्षरश: यहां उद्धृत कर दिया जाता है ।

फैसला शास्त्रार्थ नाभा

ॐ श्रीगणाधिपतये नम:

श्रीमान्मुनिवर वल्लभविजयजी !

पंडित श्रेणि सरकार नाभा इस लेख द्वारा आपको विदित करते हैं । गत संवत्सर में आपने हमारे यहां श्री १०८ मन्महाराजाधिराज नाभानरेशजी के हजूर में ६ (छ:) प्रश्न निवेदन करके कहा था कि यद्यपि जैन मत और जैन शास्त्र भी सर्वथा एक है परंतु कालान्तर से हमारे और ढुंढियों में परस्पर विवाद चला आता है बल्कि कई एक जगह पर शास्त्रार्थ भी हुआ परन्तु यह बात निश्चय नहीं हुई कि अमुक पक्ष साधु है । श्रीमहाराज की न्यायशीलता और दयालुता देशांतरों में विख्यात है इससे हमें आशा है कि हमारे भी परस्पर विवाद का मूल आपके न्याय प्रभाव से दूर हो जायेगा, भगवदिच्छा से इन दोनों में ढुंढियों के महंत सोहनलालजी यहां आये हुए हैं, उनके सन्मुख ही हमें इन ६ (छ:) प्रश्नों का उत्तर जैन मत के शास्त्रानुसार उनसे दिलाया जावे । आपके कथनानुसार उक्त महंतजी को इस विषय की इत्तला दी गई, आपने इत्तला पाकर साधु उदयचन्दजी को अपने स्थानापन्न का अधिकार देकर उनके हानि लाभ को अपना स्वीकार करके शास्त्रार्थ करना मान लिया था ।

तदनंतर श्री १०८ श्रीमन्महाराजाधिराजजी की आज्ञानुसार हम लोगों

को शास्त्रार्थ के मध्यस्थ नियत किया गया। तिस पीछे कई दिन तक हमारे सामने आपका और उदचंदजी का शास्त्रार्थ होता रहा। शास्त्रार्थ के समय पर जो परिणाम आपने दिखलाये सो शास्त्रविहित थे। आप की उक्ति और युक्तियें भी निःशंकनीय और प्रामाणिक थी। प्रायः करके श्लाघनीय हैं। उक्त शास्त्रार्थ के समय पर और इस डेढ वर्ष के अंतर में भी जो इस विषय को विचारा है उससे यह बात सिद्ध नहीं हुई कि जैन मत के साधुओं को वार्तालाप के सिवाय अहोरात्र अखंड मुख बंधन और सर्वकाल मुख पोतिका के मुख पर रखने की विधि है। केवल भ्रांति है। केवल वार्तालाप के समय ही मुख वस्त्र के मुख पर रखने की आवश्यकता है हमारे बुद्धि बल की दृष्टि द्वारा यह बात प्रकाशित होती है कि आपका पक्ष ढूंढियों से बलवान है।

यद्यपि आपका और ढूंढियों का मत एक है और शास्त्र भी एक हैं इसमें भी सन्देह नहीं, साधु उदयचंदजी महात्मा और शान्तिमान है परंतु आपने जैन मत के शास्त्रों में अतीव परिश्रम किया है और आप उनके परम रहस्य और गूढार्थ को प्राप्त हुए हैं। सत्य वोही होता है जो शास्त्रानुसार हो और जिसमें उसके कायदों से स्वमत और परमतानुयायिओं की शंका न हो। शास्त्र के विरुद्ध अंधपरंपरा का स्वीकार करना केवल हठ धर्म है। पूर्व विचारानुसार जब आप का शास्त्र और धर्म एक है उसके कर्त्ता आचार्य भी एक हैं फिर आश्चर्य की बात है कि कहा जाता है कि हमारे आचार्यों का यह मत नहीं है और ना वो इन ग्रन्थों के कर्ता है। आप देखते हैं कि हमारे भगवान् कलकी अवतार की बाबत जहां आप देखोगे एक ही वृत्त पावेगा, ऐसे ही आप के भी जरुरी है।

आप के प्रतिवादीके हठके कारण और उनके कथानानुसार हमें शिवपुराण के अवलोकन की इच्छा हुई। बस इस विषय में उसके देखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। ईश्वरेच्छा से उसके लेख से भी यही बात प्रगट हुई कि वस्त्र वाले हाथ को सदा मुख पर फैकता है इस से भी प्रतीत होता है कि सर्व काल मुख वस्त्र के मुख पर बांधे रखने की आवश्यकता नहीं है किन्तु वार्तालाप के समय पर वस्त्र का मुख पर होना जरुरी है। आप के शास्त्रार्थ

से एक हमें बड़ा भारी लाभ हुवा है कि हमें मालूम हो गया कि जैन मत में भी सूतक पातक ग्रहण किया है और जैनी साधुओं को उन के घरों के आहारादि के लेने की विधि नहीं है ।

व्यतीत संवत्सर के जेष्ठ सुदी पञ्चमी सं. १९६१ को जो शास्त्रार्थ मध्य में छोड़ा गया जिसका यह आशय था कि ढूंढियों की ओर से सदा मुख बन्धन की विधि का कोई प्रमाण मिले सो आज दिन तक कोई उत्तर उनकी तरफ से प्रगट नहीं हुआ, अत: उन की मूकता आप के शास्त्रार्थ के विजय की सूचिका है । बस इस विषय में हमारी संमति है और हम व्यवस्था याने फैसला देते हैं कि आप का पक्ष उन की अपेक्षा बलवान् है, आप की विद्या की स्फूर्ति और शुद्ध धर्माचार की निष्टा अतीव श्रेष्ठतर है । प्राय: करके जैन शास्त्र विहित प्रतीत होता है और है ।

इत्यलम् १८ पौह सं. १९६२ मु. रियासत नाभा ।

१. पण्डित भैरवदत्त.

२. पण्डित श्रीधर राज्य पण्डित नाभा.

३. पण्डित दुर्गादत्त.

४. पण्डित वासुदेव.

५. पण्डित वनमालिदत्त ज्योतिषी.

उक्त फैसले के आने पर श्रीमुनि वल्लभविजयजी ने श्रीमान् नाभा नरेश को एक पत्र लिखा, उस की नकल आगे देते हैं ।

श्रीमान् महाराजा साहिब नाभापतिजी जयवन्ते रहें, और राय-कोट से साधुवल्लभविजय की तरफ से धर्म लाभ वांचना । देवगुरु के प्रताप से यहां सुख शान्ति है, और आप की हमेशा चाहते हैं । समाचार यह है कि आप के पंडितों का भेजा हुआ फैसला पहुँचा, पढ कर दिल को बहुत आनन्द हुआ, न्यायी और धर्मात्मा महाराजों का यही धर्म है, कि सत्य और झूठ का निर्णय करें जैसा कि आपने किया है, कितने ही समय से बहुत लोगों के उदास हुए दिल को आप ने खुश कर दिया, इस बारे में आप को बार बार धन्यवाद है । अब इस फैसले के छपवाने का ईरादा है, सो रियासत नाभा में छपवाया जावे

या और जगह भी छपवाया जा सकता है। आशा है कि इसका जवाब बहुत जल्द मिले। ता. १८-१-१९०६, द० वल्लभविजय जैन साधु।

पूर्वोक्त पत्र के उत्तर में नाभा नरेश ने पण्डितों के नाम पत्र लिखा, उसकी नकल नीचे मुजब है :-

ब्रह्मामूर्त पण्डित साहिबान कमेटी सलामत नम्बर ११९३.

इन्दुल गुजारिश पेशगाह खास से इरशाद सायर पाया कि बाबा जी को इत्तला दी जावे कि जहां उनकी मनशा हो वहां इसको तबअ करावें, यह उन को अखतियार है, जो कुछ पंडतान ने बतलाया वह भेजा गया है, लिहाजा मुतकल्लिफ खिदमत हूँ कि आप बमनशा हुक्म तामील फर्मावें, १० माघ संवत् १९६२ आप सरिशतह ड्योढी पन्नालाल, सरिशतहदार।

इस पत्र के उत्तर में कमेटी पंडितान ने श्रीमुनि वल्लभविजयजी के नाम पत्र लिखा, उसकी नकल यह है - "ब्रह्म स्वरूप बाबा साहिबजी श्रीमहात्मावल्लभविजयजी साहिब साधु सलामत. नं. ७७६"

सरकार बाला दाम हश्मतहू से चिट्ठी आपकी पेश होंकर बदीं जवाब बतवस्सुल ड्योढी मुबारिक व हवालह हुक्म खास बदीं इरशाद सदूर हुआ कि बाबाजी को इतला दी जावे कि जहाँ उनका मनशा हो तबअ करावें, बखिदमद महात्माजी नमस्कार दस्त बस्तह होकर इल्तिमास किया जाता है कि जहाँ आपका मनशा हो छपवाया जावे, और जो फैसला तनाजअ बाहमी साधुआन् महात्मा का जो जैनमत के अनुसार पण्डितान ने किया था, आपके पास पहुँच चुका है मुतलअ हो चुका है, तहरीर ११ माघ संवत् १९६२ द० संपूर्णसिंह अज सरिशहत कमेटी पण्डितान ॥

जिस प्रकार नाभा का फैसला हुआ और इसमें स्थानकवासियों का पराजय हुआ था इसी प्रकार पटियाला इलाका के समाना शहर में भी शास्त्रार्थ हुआ उस में भी स्थानकवासियों का ही पराजय हुआ था और बात भी ठीक है कि जिन लोगों ने जैन-शास्त्र विरुद्ध आचरण की है उन लोगों का पराजय होता ही है क्योंकि डोराडाल दिनभर मुँहपत्ती बांधने में न तो जैन-शास्त्र सहमत है न परधर्म के शास्त्र। और न ऐतिहासिक साधनों के प्रमाण

ही सम्मत हैं इतना ही क्यों पर यह प्रथा लोक विरुद्ध भी है इस कुलिंग की स्थान स्थान निंदा और अवहेलना होती है जैन धर्म की निंदा और हँसी करवाई है तो ऐसे कुलिंग धारियों ने ही करवाई है इन लोगों के लिये हमें दया आती है शासन देव इनको सद्‌बुद्धि प्रदान करे इनके अलावा और क्या किया जाय।

इस नाभानरेश व पण्डितों के फैसले से पाठकवर्ग और विशेषकर हमारे स्थानकवासी भाई ठीक तौर पर समझ गये होंगे कि जैनशास्त्रों व अन्यधर्म के ग्रन्थों के आधार पर दिया हुआ फैसला साफ-साफ पुकार रहा है कि जैन मुनियों के मुखवस्त्रिका का सनातन से हाथ में और बोलते समय मुँह आगे रखना ही विधान है ।

हारा जुआरी दूगुनाखेले

एसे फैसलों से और एतिहासिक साधनों से इन कल्पितमत (स्थानकवासी) की चारों और पोल खुलने लगी और समझदार भव भीरु स्थानकवासी साधु एक के पीछे एक मुँहपती का मिथ्या डोरा तोड़ कर मूर्तिपूजा के उपासक बनने लगे। इस हालत में स्थानकवासियों के पास दूसरा कोई उपाय न रहा जिस से रहे हुए अबोध लोगों को कुछ भी आश्वासन देकर उन के चलचितको स्थिर कर सके । फिर भी यह करना इन लोगों के लिए जरूरी था अतएव हाल में ही इन लोगोंने 'पीतांबर पराजय' नामक एक छोटा सा ट्रेक्ट छपवाया, जिस में बिलकुल कल्पित और असभ्य शब्दों में आप अपनी जय और जैन मुनियों का पराजय होने का मिथ्या प्रयत्न किया है । पर अब जनता एवं विशेसे स्थानकवासी समाज इतना अज्ञानन्धकार में नही है कि नाभा-नरेश की सभा के पण्डितों के हस्ताक्षर से दिया हुआ फैसला और खास नाभानरेश के साथ पत्र व्यवहार द्वारा महाराज नाभानरेश ने अपनी सभा के पण्डितों द्वारा दिया हुआ न्यायपूर्वक फैसला छपाने की इजाजत दें । उस फैसला को असत्य समझे और स्थानकवासी कई मताग्रही लोगों की कल्पित एवं बिलकुल झूठी बातों को सत्य समझ ले ? यदि स्थानकवासी भाई जैनमुनियों की पराजय और अपनी जय होना घोषित करते हैं तो उनको

कहना चाहिये कि नाभानरेश की सभा के किसी पण्डित का दिया हुआ फैसला कि एक लाइन तक भी जनता के सामने रखे। यदि आपका यह कहना हो कि मध्यस्थ पण्डितों के अन्दर से सब के सब नहीं किन्तु कुछ पण्डितों ने फैसला दिया है परन्तु आप उन मध्यस्थ पण्डितों से किसी एक का तो इस फैसला के विषय में विरोध हो तो उनके हस्ताक्षर ले जाहिर करें वरना अब थोथी बातों और मिथ्या लेखों से जनता को भ्रम में डाल देने का जमाना नहीं है कि नाभा नरेश की सभा के नियत किये हुए मध्यस्थ पण्डित उभय तरफ की दलीलें सुन निर्पक्ष भावों से फैसला दें और उस फैसला को छपवाने की खास नाभा नरेश अपनी अनुमति दें उसको तो जनता असत्य समझ ले और प्रमाण शून्य मनः कल्पित बिलकुल झूंठी बातें पर सहसा दुनिया विश्वास करले ? इससे तो ऐसी रद्दी पुस्तकें प्रकाशित करवाने वालों की उल्टी हँसी होती है फिर भी "हारा जुआरी दूगना खेले" इसी युक्ति को हमारे स्थानकवासी कई मताग्राही लोग ठीक चरितार्थ कर रहे हैं तथापि इस सत्यता के युग में सदैव सत्य की ही जय हो रही है।

॥ मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास ॥ (पृ. ४१२ से पृ. ४१२)

"मंदिर-मूर्ति संबंधी प्रमाण" की समीक्षा

लेखक श्री को इस प्रकरण में वास्तविक रीति से मंदिर - मूर्ति के विरोधी आगम प्रमाण देने चाहिये थे, परंतु आगम में कहीं पर भी एक शब्द भी मंदिर - मूर्ति विरोधी नही मिलने पर हिंसा-हिंसा का शोर मचाते है।

अहिंसा संबंधि अनेक आगम पाठ दिये उसका तो कौन निषेध करता है ? परंतु क्या पूरे स्थानकवासी समाज में एक भी साधु ऐसा है, जिसके साधु-जीवन में अंश मात्र भी हिंसा नहीं हुई हो ? यह शक्य ही नहीं है। गमनागमन - नदी उतरना आदि क्रिया होने पर भी, उनमें हिंसा होने पर भी उन क्रियाओं को आवश्यक मानकर उनसे पापबंध नहीं होता, ऐसा लेखक खुद ही पृ. १२ पर लिख रहे है। इसलिए हिंसा-अहिंसा को सूक्ष्म दृष्टि से समझनी आवश्यक है। उनके स्वरुप-हेतु अनुबंध ये तीन भेद है।

१. स्वरुप हिंसा - जीव मरे या जीवों को दुःख होवे ।

स्वरूप अहिंसा - जीवन न मरे या उनको दुःख न होवें ।

२. हेतु हिंसा - हिंसा का मुख्यकारण अयतना - जीव न मरे उसका ध्यान न रखना, उपयोग न रखना, यह हेतु हिंसा ।

हेतु अहिंसा - यतना रखनी - जीव न मरे उसका ध्यान रखना .

३. अनुबंध हिंसा - जिस प्रवृत्ति से परिणाम में हिंसा हो, जिसका फल हिंसा हो ।

अनुबंध अहिंसा - जिस प्रवृत्ति से परिणाम में अहिंसा हो, जिसका फल अहिंसा हो ।

अनुबंध हिंसा - अहिंसा में ध्येय की मुख्यता है । अहिंसा का पालन किस आशय से कर रहा है या हिंसा किस आशय से कर रहा है, उससे उसका निर्णय होता है । अभव्य का जीव सूक्ष्म चारित्र पालन करें, सूक्ष्म अहिंसा का पालन करें तो भी ध्येय शुद्धि न होने से उसे अनुबंध हिंसा होती है । सुसाधु नदी उतरता है तो भी उसे अनुबंध अहिंसा होती है । तभी तो अरणिकापुत्र आचार्य को नदी उतरते खुद के शरीर के खून से अप्काय के जीवों की हिंसा होते हुए भी केवलज्ञान की प्राप्ति और मोक्षगमन हो सका । (इसके विस्तृत विवेचन के लिये देखिए - 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पृ. २१२ से पृ. २२३)

मंदिर निर्माण - जिनपूजादि में यतना और ध्येय की शुद्धि होने पर, वहाँ भी पारमार्थिक अनुबंध अहिंसा है । देखिये पूर्वाचार्यों के वचन -

सतामस्य कस्याचिद् यतना भक्तिशालिनाम् ।
अनुबन्धो ह्यहिंसाया जिनपूजादिकर्मणि ॥

खास बात तो यह है कि - मंदिर निर्माण - जिनपूजादि के अधिकारी साधु नहीं परंतु श्रावक है । साधु सावद्य योगों से मन-वचन-काया से निवृत्त है । श्रावक तो संसार में बैठा है, हिंसा रोजाना जीवन में चालु ही है । दुसरी अनेक प्रकार की हिंसाएँ करते हुए भी हिंसा-हिंसा का शोर मचाकर जो जिनपूजादि नहीं करते है, वह उनकी मूर्खता है । देखिये - पूर्वधर उमास्वातीजी म. के वचन -

देहादि णिमित्तं पि हु जे, कायवहम्मि तह पयट्टंति ।

जिणपूआकायवहम्मि, तेसिमपवत्तणं मोहो ।

(श्रावकप्रज्ञप्ति गाथा नं. ३४९)

भावार्थ : शरीर, व्यापार खेती आदि सांसारिक कार्यो में तथा संत-सतियों की जन्म-जयन्तियाँ, श्मशान यात्रा, किताबें छपवाना, मर्यादा महोत्सव, दीक्षा महोत्सव, चातुर्मास में वाहन द्वारा संत-सतियों के दर्शनार्थ जाना, बडे-बडे स्थानक, सभा-भवन, समता भवन बनवाना आदि धार्मिक कार्यों में हिंसा करते ही हैं, लेकिन जीवहिंसा का बहाना बनाकर जो लोग समकित और मोक्ष देनेवाली जिनपूजा नहीं करते है । यह उनका मिथ्यात्व है ! मोह है !! मूर्खता है !!!! पूर्वाचार्यों की वाणी को मानने वाले सपूत या अवहेलना करें वह सपूत ? निर्णय स्वयं करे ।

इसी बात को एकावतारी १४४४ ग्रंथों के प्रणेता, विदेश के अनेक महाविद्वानों द्वारा प्रमाणित किये गये, ऐसे हरिभद्रसूरिजी म.सा. ने अपने पंचाशक महाग्रंथ के चतुर्थ पंचाशक में भीं कहीं है ।

दिगंबरों में भी उनके पूर्वाचार्यों ने भी इस वस्तु को स्वीकारा है । देखिये : "थोडा आरंभ होते हुए उसकी भावना आरंभ करने की नहीं है । लेकिन आरंभ के बिना कोई भी गृहस्थ कार्य नहीं होता । द्रव्य से पूजा करनेवालों को थोडा आरंभ होता ही है, उसके बदले में महान् पुण्य भी होता है, ऐसा स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है ।" **("एक ही रास्ता" पृ. ४४ लेखक धवलसागरजी)**

श्वेतांबर - दिगंबरों में सभी पूर्वाचार्य एकमत से इस वस्तु को स्वीकारते हैं । केवल लेखक महाशय जैसे ही इसमें दोष बताते है ।

लेखक महाशयने आगे - पीछे अपशब्दों की लंबी प्रस्तावना करके संस्कृत-प्राकृत के अनभिज्ञ पाठकों को उल्लु बनाने के लिए पृ. १३ और पृ. २४ पर साधु संबांधि महानिशीथ सूत्र के पाठ दिये हैं । साधु के लिये उपर कहे मुताबिक मंदिर, जिनपूजा आदि सावद्य होने से वर्जित है । पृ. १३, पृ. २४ पाठों में साधु उसमें प्रवृत्ति करें उससे स्पष्ट ही उनके लिये वह दोष का

कारण, संसार भ्रमण का कारण बताया है । गृहस्थ के लिये वही हितकारी होता है । जिससे महानिशीथ के पाठ से मूर्तिपूजा का विरोध होता ही नहीं है । देखिये महानिशीथ सूत्र तृतीय अध्ययन में स्पष्ट पाठ है :-

'तेसिय तिलोयमहियाण धम्मतित्थगराण जगगुरुणं भावच्चण दव्वच्चण भेएण दुहच्चणं भणियं भावच्चणं चरित्ताणट्ठाण - कट्ठुग्गघोरतवचरण, दव्वच्चणं, विरयाविरय - सील - पूया सक्कुरदाणाई । तो गोयमा एसत्थे परमत्थे । तं जहा-भाव्च्चण-मग्गविहारयाय् दव्वच्चणं तु जिन-पूया । पढमा जईण दोन्निवि गिहीण ।

इस प्रकार स्पष्ट पूजा के दो भेद बताकर मुनि को भाव पूजा ही है, श्रावक को द्रव्य-भाव यह दोनों पूजा है । इस परमार्थ सत्य को महानिशीथ सूत्र में बताया गया है ।

आगे लेखक श्री "प्रश्नव्याकरण - आचारांगादि सूत्रों में भगवान ने धर्मोपदेश में जीवों की रक्षा - दया -वैराग्यादि का उपदेश देने का बताया है, मंदिर मूर्ति आदि का उपदेश देने का कही भी नही कहा" ऐसा बता रहे है । उन्होंने यह विचार नहीं किया कि परमात्मा ने उपदेश में गायों को घास, कबुतर का चुग्गा (जिनमें एकेन्द्रिय की हिंसा होती है), स्थानकादि बनवाना, साधर्मिक की भक्ति करना वगैरह भी नहीं बताया, तो क्या वे सब वर्जित है ? इन सब में हिंसातो होती ही है ।

आगे लेखक ने व्यवहार चूलिका का चंद्रगुप्त के १६ स्वप्न में चौथे पांचवे स्वप्न के फल का पाठ देकर निष्कर्ष निकाला कि उस समय जिनप्रतिमा - मंदिर नहीं थे, तभी स्वप्न के कुप्रभाव से यह होना लिखा । परंतु उनकी यह कल्पना गलत है । श्रावक मंदिर-मूर्ति बनवाने - पूजन के अधिकारी है । साधु केवल भावपूजा के अधिकारी है, परंतु काल के प्रभाव से कितनेक साधु वेशधारी पतित होकर नहीं करने के काम करेंगे । इसलिए वहाँ स्पष्ट 'लोभ से करेंगे' लिखा है । अत: लेखक की कुकल्पना व्यर्थ है । वैसे तो पं. कल्याणविजयजी ने निबंध निचय में उस व्यवहार चूलिका को कृत्रिम कहा है, इसलिए वस्तुत: यह प्रमाणभूत नहीं है ।

पीछे लेखकश्री झूठे शिलालेख लिखकर गाडने की कुकल्पना करते हैं विचार करें - प्रामाणिक इतिहास से ज्ञात होता है कि लौंकाशाह के पूर्व मूर्तिपूजा का विरोध था ही नहीं तो भला कौन और क्यो हजारों की संख्या में लेख-मूर्तियां गाडने की चेष्टा करेगा लेखककी कल्पना के हिसाब से तो वैसा कोई सर्वशक्तिमान व्यक्ति मानना पडेगा जो जगह-जगह पर, विदेश में - अनार्य क्षेत्रों में - दरिये में भी हजारों की संख्या में लेख-मूर्तियाँ आदि गाडने का या डालने का काम करता होगा । या तो ऐसे हजारों व्यक्ति मानने पडेंगे, जिनको कूटलेखों का काम सोंपा हो । कैसी भद्दी कल्पना है. महाशय की ! विदेश के और भारत के महान् इतिहासज्ञ - महान् विद्वान जिन लेखों को सच्चे मानते हैं, जिन लेखों के आधार पर इतिहास की गुप्त कडियाँ सुलझती है और इतिहासकार आनंदित होते है, उन लेखों को महाशय कल्पित मानने की चेष्टा करते है । और संमूर्च्छिम जैसी जिसकी उत्पत्ति है, जिसकी प्राचीनता का एक भी प्रमाण नही है, सभी विद्वानों ने जिसे अर्वाचीन माना है, ऐसे स्थानकवासी पंथको प्राचीन सिद्ध करने की कुकल्पनाएँ करते हैं । है ना लेखक की बुद्धिशालीता ? अनेक पूर्वाचार्यों द्वारा प्रमाणित शंखेश्वर पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्राचीनता, निर्युक्ति चूर्णि - टीकादि से भी सिद्ध जीवित स्वामी की प्रतिमा को ढोंग - तुत कहने की कुबुद्धि सुझती है । रे मिथ्यात्व ! तेरा कैसा प्रभाव ? बडे-बडे विद्वानों को कदाग्रह से भान भुला देता है ।

पकडी गई बेईमानी !!!

आगे लेखक की बेईमानी देखिये - कलिकालसर्वज्ञ आ. श्री हेमचंद्रसूरिजी म. के. योगशास्त्र पृ. २८७ का पाठ अपनी कुबुद्धि से शब्द जोडकर गलत अर्थ करते है । योगशास्त्र में मूर्तिपूजा का एक शब्द में भी निषेध नही है, अपितु जिनपूजा की विस्तृत विधि बतायी है । ग्रंथकार तो अलग ही कह रहे है । सावद्य आरम्भ में शास्त्रकार वचन से भी अनुमोदना न हो उस बात का ध्यान रखते है । "स्नान विलेपनादि स्वतः सिद्धवस्तु का उपदेश नहीं होता है परंतु जो पूजा वगैरह अप्राप्त वस्तु हो उसी को शास्त्र

बताते हैं ।" यह बात कहकर ग्रंथकार आगे देवगृह गमन की विधि - सर्व ऋद्धिपूर्वक जाना वगैरह विस्तृत विधि बताते है । इससे पाठक लेखक की बेईमानी समझ सकते है ।

आगे लेखक महाशय मंदिर मार्गियों को कहते है - "शर्महीन होकर कहते जा रहे है कि जैनधर्म में मूर्तिपूजा अनादि से है" हम शर्महीन होकर नही कहते है, परंतु अनेक आगमों के ठोस प्रमाणों से सिद्ध होने से गर्व से मूर्तिपूजा को अनादि बता रहे हैं । जबकि लेखक स्वयं संमूर्छिम जैसे टपके हुए प्रमाणहीन पंथ को शर्महीन होकर भगवान महावीर से जोडने की कुचेष्टा कर रहे है । आगमों में जगह - जगह पर शाश्वत (अनादि) जिनप्रतिमाओं की बात है, अच्चणिज्ज पूयणिज्ज कहकर आगम ही उन्हे, पूजनीय बता रहे है तो मूर्तिपूजा अनादि स्वयंसिद्ध हो ही जाती है । केवल इसके लिए लेखकश्री को अभिनिवेश का काला चश्मा उतारकर सम्यगदर्शन के पवित्र चश्मे से आगमों का अवलोकन करने की आवश्यकता है ।

आगे लेखक ने सम्यक्त्व शल्योद्धार की बात को लेकर पूरी बेईमानी की है, सम्यक्त्व शल्योद्धार पृ. ४ पर पू. आत्मारामजी म. प्रश्नव्याकरण सूत्र के पांचवें संवर द्वार का पाठ देकर आगे इस प्रकार लिखते है "भावार्थ - पात्र १ पात्रबंधन २ पात्रकेसरिका ३ पात्र स्थापन ४ पडले तीन ५ रजस्त्राण ६ गोच्छा ७ तीन प्रच्छादक १० रजोहरण ११ चोलपट्टा १२ मुखवस्त्रिका १३ वगैरह उपकरण संजम की वृद्धि के वास्ते जानने ।। उपर लिखे उपकरणों में उन के कितने, सूत के कितने, लंबाई वगैरह का प्रमाण कितना, किस-किस प्रयोजन वास्ते और किस रीति से वर्तने वगैरह कोई भी ढुंढक जानता नहीं है, और न यह सर्व उपकरण इन के पास है ।" लेखक ने जो इस ग्रंथ में "जिस साधु के पास ये उपकरण नहीं हो और अन्य कोई भी उपकरण हो वह जैन साधु नही है" ऐसा होना लिखा है यह वाक्य नहीं तो उपरोक्त पाठ में है नहीं आगे पीछे भी ग्रंथ में है । होगा भी कैसे उपर मूलसूत्र में 'मुहणंतगमाइयं' तथा उसके अनुवादमें बताये वगैरह शब्द से अन्य संयमोपयोगी उपकरण ग्रहण किये है तो पू. आत्मारामजी जैसे महाविद्वान ऐसा कैसे लिखेंगे ।

लेखक कूटनीति से गलत पाठ पेश कर रहे है। पाठक स्वयं उपर के पाठ से निर्णय करें।

प्रश्नव्याकरण के पाठ से तो उल्टी खुद की जांघ ही खुली हुई। इन्होंने जो पृ. ३७ पर, स्थानकवासियों का आगमानुसार उपकरण रखने की बात लिखी है, वह उड जाती है। इन के पास शास्त्र में बताये पटल, रजस्त्राण, गोच्छग उपकरणों का नामोनिशान नहीं है। यह मत गृहस्थ से निकला होने से, संमूर्छिम है। जिससे परमात्मा की विशुद्ध परंपरा न होने से शास्त्र में लिखे उपकरण, प्रतिलेखन विधि वगैरह के ज्ञान से रहित है। अतः कल्पित उपकरण एवं विधियाँ चलायी है। डंडा रखना आचारांग - दशवैकालिकादि से सिद्ध है। भगवती शतक ८ उद्देश ६ में स्पष्ट पाठ है - "एवं गोच्छग रयहरणं चोलपट्टग कंबल लट्ठी संथारग पदृगा भाणियव्वा॥" अतः "इन उपकरणों को मनमते रखने की परंपरा चलाकर भी अपने को जैन साधु कहते है और फिर भी लिखते समय इनको भान नहीं रहता कि खुद की जंघा पर कुल्हाडी चलाने रुप हम यह क्या पागलपन कर रहे है ? यही अज्ञानदशा और भवितव्यता है।" ये लेखक के शब्द किस को लागू होते हैं, उसका निर्णय पाठक ही करें!

आगे भद्रबाहु के ८वें स्वप्न का फल-जिन-जिन स्थानों पर प्रभु के कल्याणक हुए, उन-उन स्थानों पर धर्म की हानि होगी - यह जो है उसका लेखक उल्टा अर्थ कर रहे है। उन-उन स्थानों पर मंदिर बने इसलिये धर्महानि बता रहे है। लेखक की कुबुद्धि देखिये - मंदिर से अंतर में कितना द्वेष भरा है। अगर स्थानक बनते तो इनके हिसाब से धर्मवृद्धि होती ! वास्तविकता तो यह है कि उन स्थानों में जैनों की वसति नहीं रहेगी - उज्जड बनेंगे - इसलिए धर्म की हानि होगी। जो आज भी प्रत्यक्ष हैं।

आगे लेखक श्री 'पूजाकोटिसमं स्तोत्रं' यह जैनतत्त्वादर्श का पाठ देकर सारी जिंदगी पूजा करे तो भी एक स्तोत्रपाठ के फल बराबर नहीं होता, यह हिसाब लगाकर मूर्तिपूजकों को मूर्ख - महामूर्ख कह रहे है। वस्तुतः ये पदवीयां उनको खुद को ही लगती हैं, चूँकि मूर्तिपूजक तो स्तोत्रपाठ, मंदिर

में भी करते है, सामायिक में भी करते हैं और पूजा का फल भी उनको एकस्ट्रा में मिलता है, जबकि स्थानकवासी तो केवल सामायिकादि में ही स्तोत्र-पाठ करेंगे । पूजा में तो पाप मानने से उस फल से भी वंचित है, तो हिसाब में लाभ किसका बढेगा ? वास्तवमें स्तोत्रादि भी स्वभूमिका के अनुसार पूर्वपूर्व से युक्त होकर ही विशिष्ट फलदायी होते है । अंक बिना के शून्यों की कोई कीमत नहीं होती हैं । इसलिए केवल महिमापरक वाक्यों को लेकर दुसरे योगों की अनुपयोगिता सिद्धि नहीं होती है । अब विचार करें कौन मूर्ख - महामूर्ख है ?

अज्ञान तिमिर भास्कर का पूर्ण अवलोकन किया, इन्होंने लिखी बात का उसमें नामो निशान भी नहीं है । आत्मारामजी जैसे धुरंधर विद्वान के ग्रंथ के नाम से 'कपोलकल्पित' बातें लिखकर पाठकों को उल्लू बनाना खुद की कमजोरी, खुद के मत की नि:सारता को प्रकट करता है । लेखक की योग्यता भी इससे दिखायी देती है ।

आगे लेखक श्री आधाकर्मी आदि दोष लगाके मूर्तिपूजक साधुओं की निंदा कर रहे है । मूर्तिपूजक अनेक शुद्ध संयमी साधु आज भी आधाकर्मी आदि दोषों का सूक्ष्मता से वर्जन करते दिखायी देते है । जबकि अनेक स्थानकवासी संत-सतियाँ भी आधाकर्मी आदि का सेवन करते दिखायी देते है । अज्ञानता से नित्यपिंड के लघुदोष से छुटने में आधाकर्मी आदि बडे दोष में लिपटे हुए अनेक स्थानकमार्गी दिखते हैं । 'हमारा धोवण पानी निर्दोष होता है' ऐसा मनसे मानने से पानी निर्दोष नही बनता है । केवल माया चारिता है । इस काल में संपूर्ण शुद्ध धोवण मिलना अतिदुर्लभ है । संतो की प्रेरणा पाकर प्राय उन्ही के लिए धोवण पानी बनाकर रखा जाता है । इसलिए द्वेष से ऐसा कीचड उछालना बराबर नहीं है ।

"मूर्तिपूजा: पाश्चात्य विद्वान" की समीक्षा

इस प्रकरण में लेखक ने मिस्टर लेसन साहिब का मन्तव्य दिया है कि बौद्ध और जैन धर्म में मूर्तिपूजा अन्य धर्म के प्रभाव से चालु हुई, यह केवल उनकी कल्पनामात्र है । बाकि दयानंद सरस्वती कहते है - अन्यधर्मों में जैनों के देखादेखी - मूर्तिपूजा चालु हुई है । अत: किसी के भी अभिप्राय मात्र से तत्त्वनिर्णय नहीं होता है। आगम शास्त्र से ही जैन धर्म में अनादिकाल से मूर्तिपूजा सिद्ध होती है । जो इसी पुस्तिकामें आगे - पीछे अनेक पाठों से सिद्ध किया गया है।

"रात्रि में पानी रखना" की समीक्षा

जिनशासन अनेकांतमय है, उत्सर्ग - अपवाद से चलता है । उत्सर्ग के स्थान में उत्सर्ग का एवं अपवाद के स्थान में अपवाद का सेवन करना आवश्यक होता है । कुछ परिस्थितियों में अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग का सेवन करने पर भी आराधक होता है, परंतु कुछ परिस्थितियों में अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग की पकड रखने पर विराधक होता है । उत्सर्ग - अपवाद की सही जानकारी के लिए गुरुगम से छेदग्रंथों के तलस्पर्शी अध्ययन की आवश्यकता रहती है । परिणतादि अनेक गुणों से युक्त साधु ही उसका अधिकारी होता है, सभी साधु भी उसके अधिकारी नहीं है, ऐसा शास्त्र कहते हैं ।

अरे छेदसूत्र तो क्या दुसरे आगमों के लिये श्री व्यवहारसूत्र १० वें उद्देशें में स्पष्ट रीति से बताया है, अमुक आगम अमुक वर्ष पर्यायवाला साधु ही पढ सकता है । इतना स्पष्ट पाठ होने पर भी ये महाशय पृ. २६ पर मूर्तिपूजकों पर "भक्तजनों को शास्त्र पढने और देखने से महान भय बताकर कोसों दूर रख दिया है ।" ऐसा गलत आरोप लगाकर अपनी अज्ञानता - अभिनिवेश प्रकट करते है ।

यह तो अतिप्रसिद्ध बात है कि लौकिक में भी ऋषिमुनि आदि भी अपने शिष्यों को योग्यता देखकर ही विशिष्ट श्रुत - मंत्र-विद्यादि देते थे, तो लोकोत्तर जिनशासन में सरासर योग्यता का विचार किये बिना आगम जैसे अतिविशिष्ट गणधरप्रणीत, अन्य श्रुतधर प्रणीत - आगम श्रुत, जैसे - तैसे गृहस्थादि को दिये जायेंगे क्या ? इतनी सीधी सी बात भी कदाग्रहीओं के गले नहीं उतरती है। और अयोग्यों को देकर अविधि करके संसार भ्रमण बढाते रहते हैं। आप से ही नीकले तेरापंथी आचार्य जितमलजी आगम पाठ का सही अर्थ करके भ्रमविध्वंसन पृ. ३६१ पर स्पष्ट बता रहे है - "केतला एक कहे - गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा छे, ते सूत्रना अजाण छे। अने भगवन्तनी आज्ञा तो साधु ने इज है। पिण सूत्र भणवारी गृहस्थ ने आज्ञा दीधी नथी।"

अभी अपनी मूल बात - जैन साधु - साध्वी के रात्रि में पानी रखना या आहार रखना निषिद्ध है, यह बात बराबर है। परंतु जिनशासन केवल उत्सर्गमय नहीं है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से उसमें भी अपवाद है ही। वर्तमान मे अतिशुद्धिवाद के काल में जैनधर्म की निंदा न हो, ऐसी किसी अपेक्षा से महापुरुषों से आवश्यकता महसूस होवे तो रात को पानी रखने की परंपरा चालु हुई है। यह एक जीताचार है।

औषधी रूप से कोई मूत्रादि का उपयोग करे इसलिये वह एकान्त अशुचि नहीं है, कहना अज्ञानता है। औषधी रुप में उपयोग कारणिक होता है उसमें शुचि-अशुचि; भक्ष्य - अभक्ष्य गौण बनता है। जहर का भी औषधीरुप में उपयोग होता है, इसलिए वह जहर नहीं है, ऐसा नहीं कहा जाता हैं। णिसाकप्प वगैरह भी आपवादिक विधियाँ हैं, उन्हें औत्सर्गिक बना देना, वह तो विराधकता है। इस अविधि से ही तो खुद लोक में निंदापात्र बनते हैं एवं जिनधर्म को लजाते हैं, और दुसरों के उपर उसका दोषारोपण करना, खुद के दोषों को छिपानेस्वरुप मायाचारिता है मूत्रादितो लोक में भी अशुचि के रुप

मे प्रसिद्ध है। इसलिये परठने का विवेक न रखने के कारण शहरों में साधु-साध्वी के लिये वसति दुर्लभ बनती जा रही है।

व्यवहार सूत्र में मोकप्रतिमादि की बातें विशिष्ट ज्ञानी - प्रतिमाधारी के लिये है। वे विशिष्ट ज्ञान के आधार से कल्प्य - अकल्प्य, सजीव - निर्जीव का विवेक कर सकते थे। वहां पर मूत्र में कृमि आदि की संभावना भी बतायी है। आपवादिक को एकांत से कल्प्य मानकर उपयोग करने में कहीं ऐसे जीवाकुल मूत्र के उपयोग में प्रथम महाव्रत में भी, संयम मे भी दोष संभव है।. इसलिये उसको अशुचि न मानकर उसका सार्वत्रिक उपयोग करना सचमुच जैनधर्म की निंदा करवाकर दुर्लभ बोधिता को प्राप्त करना ही है।

"शास्त्रपाठ में चोरियाँ" की समीक्षा

इस प्रकरण में लेखक ने 'चोर कोटवाल को डंडे' की बाजी खेली है। मायाचारिता से अंग्रेज विद्वान का नाम दे - देकर अज्ञ पाठकों को उन्मार्ग का रास्ता बताते ये लेखक सचमुच दयापात्र है। भवभ्रमण को कितना बढा रहे है।

सन् १८८८ में छपी उपासकदशा पुस्तक के अनुवाद नोट में हारनल साहब ने १. अण्णउत्थिय परिग्गहियाणि २. अण्णउत्थि परिग्गहियाणि चेइयाइं ३. अण्णउत्थिय परिग्गहियाणि अरिहंत चेइयाइं। ये तीन पाठ देकर २-३ नंबर के पाठ को प्रक्षिप्त माना है। तीन नंबर के पाठ को हारनल साहब ने प्रक्षिप्त माना, ऐसा अज्ञ लोगों को बताकर प्रक्षेप प्रक्षेप का शोर मचाते हो। जबकि दो नंबर के पाठ को भी उन्होंने प्रक्षिप्त माना है, उसे खुद भी स्वीकारते हो, क्योंकि इसको स्वीकारे बिना अर्थघटन संभव नहीं है। अज्ञ पाठकों को यह जानकारी नहीं होने से अंग्रेज के नाम से अपनी खीचडी पका सकते हो। बाकि विद्वान तो आपकी बेईमानी पकड ही लेंगे।

दुसरी बात आपने लिखी संवत् १६२१/१७४५/१८२४ की प्रतियों से भी

प्राचीन प्रतियों में 'अरिहंत चेइयाइं' वाला पाठ टीकाकार के सामने था तभी तो उन्होंने उस पाठ को लेकर टीका की है। इतनी स्पष्ट बात होते हुए भी जैसे उल्लू को स्पष्ट सूर्यप्रकाश में भी अंधेरा दिखता है, वैसी लेखक की स्थिति है। उपरोक्त पाठ की विस्तृत समीक्षा के लिये देखिये "जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा" पृ. १०९ से पृ. ११६। आगे इसमें जो चोरियाँ करना - रंगे हाथ पकडे जाना - एक झूठ के लिए अनेक झूठ करना वगैरह लंबी अपशब्दों की प्रस्तावना रची है, वह इनकी चोरी पकडी जाने से इनको ही लागू पडती है। इनकी जगजाहिर चोरियों के लिए इसी पुस्तिका में देखिये। "नमुत्थुणं पाठ प्रक्षेपः" की समीक्षा।

"बावीस अभक्ष्य की समझ" की समीक्षा

२२ अभक्ष्य का स्पष्ट पाठ आगम में न होने मात्र से उसको आगम विरुद्ध कहेंगे तो स्थानकवासी पंथ में अनेकानेक बातें आगम में नहीं है, वे मानते हैं तो वे क्या आगमविरुद्ध है ? २२ अभक्ष्य का त्याग अहिंसा में उपष्टंभक है। आगम में अनेक बातें नहीं होने पर भी पूर्वाचार्यों से परंपरा रुप मे चली आती है, वे आगम बाधित नहीं गिनी जाती है। १२वाँ अंग दृष्टिवाद विच्छेद है, १४ पूर्व विच्छेद है उनमें अनेक बातें थी, जो पूर्वाचार्यों की परंपरा से चली आती है। संसक्त निर्युक्ति पूर्व में से उद्धृत है, उस में भी कच्चे गोरस में द्विदल के मिश्रण से जीवोत्पत्ति बतायी है, उसी प्रकार कच्चे गोरस में कुसुंबसाग के मिश्रण से भी जीवोत्पत्ति बतायी है। बृहत्कल्पभाष्य में भी -

पालंकलट्टसागा मुग्गकयं चामगोरसुम्मीसं।
संसज्जइ अ अचिरा तं पि नियमा दुदोसाय ॥६०॥

पूर्वाचार्यों की परंपरा से द्विदल - दही संयोग से जीवोत्पत्ति मानी जाती है। योनि प्राभृत ग्रंथ हाल में विच्छेद है, जिसमें द्रव्यों के मिश्रण से

तत्काल जीवोत्पत्ति के अनेक प्रयोग थे । इसलिए इसमें सजीवता सिद्धि मे कोई बाध नही है, लौंकाशाह की प्राचीन सामाचारी से भी यह वर्ज्य सिद्ध होता है । इसमें भी द्विदल में दोष बताया है, वह इस प्रकार - देखिए सुशीलकुमारजी लिखित "जैन धर्म का इतिहास" में पृ. २९९-३०० पर लौंकाशा की समाचारी - में कलम (१७) 'जिस दिन गोरस लिया जाय उस दिन द्विदल का प्रयोग नहीं होना चाहिये ।'

लेखक के पूर्वज श्री अमोलक ऋषिजी महाराज अपनी पुस्तक 'जैन तत्त्व प्रकाश' पृ. ४९७ पर २२ अभक्ष्य का विस्तृत वर्णन करके उसे त्याज्य बताते है । उसमें (नं. १८) में "घोल बडे-कच्चे दही को पानी में घोलकर उसमें बड़े (पकौडे) डाले जाते हैं । वे कुछ समय बाद खदबदा जाते हैं । वे भी अभक्ष्य है ।" इस प्रकार द्विदल को त्याज्य मानते है ।

खुद के मान्य पूर्वजों का भी विरोध करते लेखक स्वच्छंदमति है या नहीं ? पाठक स्वयं विचारे ।

आज के विज्ञानयुग में सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से प्रत्यक्ष जीव दिखाई देने पर भी ऐसी बातें करनेवाले अज्ञानियों के अज्ञान पर हँसी आती है । प्रत्येक की अपेक्षासे अनंतकाय में प्रायश्चित अधिक है, इसका भी अनंतकाय वर्ज्य है ।

लेखक श्री पूर्वाचार्यों को अल्पज्ञ और खुद को महाज्ञानी मानकर सभी वस्तु के जीवोत्पत्ति का काल बताने जा रहे है । "वस्तु के अंदर वर्ण में, गंध में, रस में, स्पर्श में अशुभ विकृति होने पर जीवोत्पत्ति होने का स्वभाव हो सकता है" परंतु वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार अमुक काल में पकना, अमुक काल में बिगडना निश्चित है । जैसे फल-फूल में यह प्रत्यक्ष है, वैसे ही सभी वस्तुओं में है । तो जहाँ-जहाँ पर संभव है पूर्वाचार्यों ने वह बताया है, बाकी वस्तुओं के लिये उपर का सामान्य नियम बताया है ।

चार महाविगई बतायी उसमें मांस-मंदिरा के समकक्ष शहद-मक्खन है, ऐसा कहीं पर भी नहीं कहा गया है, उसमें तरतमता अवश्य है ही । परंतु

चारों महाविगइयाँ ही कहलाएगी एवं चारों अभक्ष्य भी है। प्राचीन ग्रंथों में भी इन्हें अभक्ष्य माना है। करीब ११०० साल पूर्व विक्रम की दसवी सदी में हुए विद्वान दिगंबराचार्य अमृतचन्द्रजी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रंथ में जीवोत्पत्ति के कारण इन्हें अभक्ष्य मानी है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥६९॥

"मधु-अर्थात् शहद भी अभक्ष्य है। मधु-मक्खियां अनेक वनस्पतियों के फूलों के रस को इकट्ठा करके उस पर बैठती हैं। भील, कोल आदि असंस्कारी जाति के लोग आग लगाकर, धुआँ करके मक्खियों को उडाते हैं और मक्खियों द्वारा बडी मुसीबत से तैयार किये हुए छते को तोडकर, कपडे में बांधकर निचोड लेते हैं। निचोडते समय मक्खियों के अण्डों का रस भी उसमें मिल जाता है। इस प्रकार घृणास्पद और पाप से पैदा होनेवाला मधु खाने योग्य नही है।" (जैन तत्त्व प्रकाश-पृ. ४९७)

"स्थानकवासी धर्म का ज्ञान" की समीक्षा

इस प्रकरण और आगे के प्रकरण में लेखकश्री ने कल्पसूत्र में निर्दिष्ट भस्मग्रह की बात के आधारपर खुद के संप्रदाय में चलती परापूर्व से पीटी पिटायी काल्पनिक - तथ्यविहीन बातें लिखी है। जिनके उत्तर, पूर्व में अनेक बार दिये गये हैं, फिर भी इनके पास दुसरे कोई भी प्रामाणिक ऐतिहासिक प्रमाण नहीं होने से करें भी क्या ? वे की वे बातें रटे जाते है। इस प्रकरण में भस्मग्रह के कारण शासन अवनति - असंयति पूजा - हिंसा-आडंबर - परिग्रहधारी - शिथिलाचारी साधु.... लौंकाशाह ने धर्म को पुनर्जीवित किया वगैरह - वगैरह... अनेक बातें की है, जिसके जवाब के लिये देखें मध्यकाल के घोटाले की समीक्षा' प्रकरण में पट्टावली पराग का पाठ। "श्रीमान् लोंकाशाह" में ज्ञानसुंदरजी म. उस समय की परिस्थिति का वर्णन इस प्रकार करते है :-

"आज यह बात कह देना बच्चों का खेल सा हो गया है कि पूर्व समयमें जैन साधुओने शिथिलाचारी हो जैन शाशन को बडी हानि पहुँचाई थी। पर यदि थोड़ासा परिश्रम कर तत्कालीन इतिहास को देखा जाय तो, यह कहे बिना कदापि नही रहा जायेगा कि उस विकट समय में चाहे उनमें से कोई आचार्य अपवादसेवी भले ही रहे हों, पर उस समय उन्होंने हजारों आपत्तिया उठा कर भी जो काम किया है, वह उनके बाद सहस्त्रांश भी किसी ने किया हो ऐसा एक भी उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि उस विकट समयमें उन आचार्यों ने जैन धर्म का जीवन सुरक्षित रक्खा, तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है। भगवान महावीर स्वामी से १००० वर्ष तक पूर्व-श्रुत ज्ञान का प्रभावशाली युग है, उसके बाद वीरात् ग्यारवी शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी का काल चैत्यवास का समय है। इन पांच सौ वर्षो में जैनाचार्योंने जितने राजाओं को जैन बनाया, तथा जितने अजैनों को जैन बनाया, जितने तात्विक विषयों के ग्रंथ बनाए, और जितने शास्त्रार्थ कर विजय वैजयन्ती फहराई उतने पीछे के इतिहास में नहीं मिलते है। और यह भी नहीं है कि उस समय सब शिथिलाचारी एवं चैत्यवासी ही थे, क्योंकि उस समयभी कई सारे क्रियापात्र एवं क्रिया उद्धारक हुए हैं। और उस समय जो केवल चैत्यवासी, एवं शिथिलाचारी ही थे, उनकी नसों में भी जैन धर्म का गौरव अक्षुण्ण रखने को वह जोश भरा हुआ था, जो पीछे के साधुओं में आंशिक रूप से ही विद्यमान रहा। परन्तु आज हम आलीशान उपाश्रय, स्थानक और गृहस्थों के बंगलों में आराम करते हुए भी कुछ नहीं करते हैं, केवल गृहस्थों पर दम लगा रहे है, वस्तुतः शिथिलाचार और चैत्यादिमठवास तो यही है। किन्तु अपनी गलती न देख उन पूर्वज महापुरुषों को शिथिलाचारी आदि से संयोजित कर उनकी निंदा करना यह भीषण कृतघ्नता ही है और संभव है आज इसी वज्र पाप से यह समाज रसातल में जा रहा है।

ज्यों ज्यों क्रियावादी, बस्तीवासी, और उग्र विहारियों का जोर बढ़ता गया त्यों त्यों चैत्यवासियों की सत्ता हटती गई, विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में तो चैत्यवासियों की सत्ता बिलकुल ही अस्त हो गई, कारण उस समय कलिकाल सर्वज्ञ भगवान हेमचन्द्रसूरि, राजगुरु कक्कसूरि, मल्लधारी अभयदेवसूरि; वादीदेवसूरि, जयसिंहसूरि, शतार्थी सोमप्रभसूरि, जिनजन्द्रसूरि आदि सुविहिताचार्यों का प्रभाव चारों ओर फैल गया था, और महाराज कुमारपाल जैसे जैन नरेशों की सहायता से जैन धर्म का खूब प्रचार हो रहा था, इसी से चैत्यवासियों का उस समय प्रायः अंत हो गया था। अर्थात् उस समय कोई भी साधु चैत्य (मंदिर) में नहीं ठहरता था। किंतु सर्वत्र वस्तीवासियों का विजय डङ्का बज रहा था। वह समय जैनधर्म की उन्नति का था, इस समय में जैन जनता की संख्या १२ करोड़ तक पहुँच गई थी। पहिले जो पुकार बार बार की जा रही थी, कि चैत्यवास को दूर करो यह पुकार चैत्यवास दूर होने से स्वतः नष्ट हो गई थी।"

श्रीमान् लोंकाशाह (पृ. ७५-७२-७३)

इस प्रकार ऐतिहासिक अन्वेषण से स्पष्ट है कि लोंकाशाह के समय में पुनरुद्धार की आवश्यकता थी।

आगे लेखकश्री ने स्थानकवासी के मुख्य उद्देश्य क्या - क्या है ? उसमें आगम विपरीत कोई भी प्ररुपणा नहीं, आगम विपरीत कोई भी उपकरण रिवाज रुप में नहीं रखना वगैरह - लिखा है जो केवल बकवासमात्र है - मुहपत्ती मुंह पर २४ घंटे बांध कर फिरना, लंबा रजोहरण वगैरह अनेक बातें आगम विपरीत है देखिये - **पट्टावली पराग** पृ. ४७१ - "लोंका के अनुयायियों में प्रचलित सेंकडों ऐसी बातें हैं जो ३२ आगमों में नहीं है और उन्हें वे सच्ची मानते है, तब कई बातें उनमें ऐसी भी देखी जाती हैं जो मान्य आगमों से भी विरुद्ध है, इसका कारण मात्र इस समाज में वास्तविक तलस्पर्शी ज्ञान का अभाव है। (इतिहासवेत्ता विद्वद्वर्य पं. श्री कल्याणविजयजी म.सा.)

"महात्मा लौंकाशाह का जीवन" की समीक्षा

इस प्रकरण में और पीछे के प्रकरण में लेखक लिखते है कि 'लोंकाशाह ने पुनरुद्धार किया', तो प्रश्न होता हैं कि उसके पूर्व में क्या सत्य धर्म नहीं था ? उसका विच्छेद हुआ था ? **भगवती सूत्र २० शतक ८ उद्देश** में परमात्मा कहते है - "है गौतम इस जंबुद्वीप भरतखंड में अवसर्पिणी काल में मेरा शासन २१००० वर्ष पर्यंत चलेगा।" इस सूत्र पाठ में विच्छेद का अथवा पुनरुद्धार का नामनिशान भी नहीं है। किन्तु निरंतर चलने का ही अर्थ निकलता है।

कल्पसूत्र में भी २००० वर्ष तक साधु-साध्वी की उदय-उदय पूजा होगी ओर भस्मग्रह के बाद साधु-साध्वीकी उदय-उदय पूजा होगी ऐसा कहा है, ग्रहयोग से जिनकी पूजा नहीं होती थी, उन्हीं की विशेष प्रकार से होगी, गृहस्थ की पूजा का उससे क्या लेना-देना ?

वास्तवमें कल्पसुत्र के मुताबिक श्री आनंदविमलसूरि, श्री हेमविलमसूरि, श्री दानसूरि, श्री हीरसूरिजी श्री जिनचंद्रसूरिजी वगैरह आचार्यों ने क्रियोद्धार किया, तब से त्यागी - शुद्ध-सुसाधु की मान्यता - पूज्यता लोक में दिन-दिन फैलने लगी - बढने लगी जो प्रत्यक्ष है।

कल्पसूत्र में ऐसा तो कहा ही नहीं है कि भस्मग्रह के कारण दो हजार वर्ष तक दयामय धर्म का लोप होगा, लोग हिंसाधर्म के कुमार्ग पर चढेंगे और ग्रह के उतरने के बाद कोई गृहस्थ पुनरुद्धार करेगा - उससे उसकी उदय-उदय पूजा होगी। जिस स्त्रीने गर्भधारण किया है, वही पुत्रको जन्म देगी। जो रोगी है, रोग दूर होने पर वही निरोगी बनेगा, उसी प्रकार जिनकी पूजा बंद हुई है, उन्हीं की पूजा चालु होगी, यह स्पष्ट अर्थ होते हुए भी तोड-मोडकर सूत्र का जानबुझकर उल्टा अर्थ करना - असत्यप्रियता को सूचित करता है।

जब वि.सं. १५३० में भस्मग्रह उतरा तो उसी समय संघ की राशि पर

धूमकेतु नाम का विग्रह उत्पादक ग्रह आ बैठा, जिसके प्रभाव से ही लोंकाशाह जैसे निह्नव पैदा हुए। उसने जैन धर्म के अंदर कुसंप और अशांति पैदाकर सर्वनाश करने का दु:साहस किया। वि. सं. १५२५ तक तो अजैनों को जैन बनाये जा रहे थे, बाद लोंकाशाह के कदाग्रह के कारण गामो-गाम फूट-कुसंप और धडाबन्धी के कारण वे शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गई। लोंकाशाह के समय मे जैनों की संख्या ७ करोड थी जो फूट-कुसंप के कारण १२-१३ लाख ही रही। अब विचार कीजिये लोंकाशाह ने कैसा पुनरुद्धार किया ?

लोंकाशाह के पूरे परिचय का आधार लेखकश्री के पास केवल संवत् १९९१ में प्रकाशित हुई 'श्री जैन धर्मनो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली' पुस्तक है। उस पुस्तक का आधार संवत् १६३६ की लिखी हस्तपुस्तक है।

१६३६ यानि लगभग ४०० वर्ष पूर्व की हस्तपुस्तक हुई, परंतु उसकी भाषा पर से उसे वर्तमान में किसी व्यक्ति की बनावटी कृति निश्चितरुप से कह सकते है चूंकि ४०० साल पुरानी भाषा और अभी की भाषा में बहुत अंतर है। उपरोक्त चरित्र वर्तमानकालीन भाषा में हैं, उसमें ४०० वर्ष प्राचीन भाषा है ही नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी वह असत्य है, लोंकाशाह सं. १५०० में अहमदाबाद आये, साहुकारी ब्याज का धंधा चालु किया, उसके बाद मुहम्मद बादशाह से मुलाकात कर खजांची बने। ये बाते १६३६ की कृति में बतायी है।

परंतु इतिहास के हिसाब से यह सब हकीकत असत्य ठहरती है, क्योंकि इतिहासकार कहते हैं कि मुहम्मद बादशाह का सं. १४९७ में अहमदाबाद में मरण हुआ। अब विचार करें - लोंकाशाह की सं. १५०१ में बादशाह से मुलाकात कैसे हो सकती है ? इसलिये वे दो हस्तप्रत्ते नकली है। इसलिये लेखकश्री का दिया हुआ लोंकाशाह का चरित्र संपूर्ण काल्पनिक बनावटी सिद्ध होता है।

दुसरी बात मुनिश्री मणीलालजी की 'जैन इतिहास और प्रभुवीर पट्टावली' जो स्थानकवासी जैन कार्यालय अहमदाबाद से प्रकाशित हुई है, उसे स्थानकवासी जैन कोन्फरन्सने ता. १०-५-१९३६ की जनरल वार्षिक बैठकमें अमान्य घोषित किया था। चूँकि पुस्तक में इतिहास असत्य - अविश्वसनीय था। इससे भी लेखकश्री ने दिया हुआ चरित्र अप्रमाणिक सिद्ध होता है।

सत्यप्रिय स्थानकवासी विद्वान नगीनदास गिरधरलाल शेठ अपने 'मूल जैन धर्म अने हालना संप्रदायो' पुस्तक में लोंकाशाह के विषय में इसप्रकार अभिप्राय देते है - 'खरी वात ए छे के लोंकाशाह संबंधी पण घणी विगतो उपलब्ध छे, परंतु ते बधी वातों स्थानकवासीओनी हालनी मनथी मानेली मान्यताथी विरुद्ध जाय छे। तेथी स्थानकवासीओं ते वातो जोवा के तपासवानी तमा पण करता नथी अने बचावमां कहे छे के विरोधियों तो लोंकाशाह माटे गमे तेम कहे छे ते वात स्थानकवासीओं मानवा तैयार नथी।

स्थानकवासीओने पोते सत्यना अनुयायी होवानो दंभ करवो छे पण सत्य जाणवा - तपासवानी दरकार करवी नथी! जे अनेक विश्वसनीय प्रमाणोंथी असत्य ठरतु होय तेने पण असत्य तरीके न स्वीकारवुं तेमां अज्ञान नथी पण दंभ अने दुराग्रह छे। अने दंभ तथा दुराग्रह ते मिथ्यात्वना अंशो गणाय छे।' ३४३, ३४४

'अंधश्रद्धाथी मुनिश्री सदानंदीने तथा स्थानकवासीओने साचा प्रमाणों न मानवा होय अने सर्वधर्मक्रियानो निषेध करनार लोंकाशाह ने खोटी रीते 'धर्मप्राण' कही असत्य मान्यतानुं पाप वहोरवुं होय तो ते जैनधर्मी कहेवडावनार माटे दूषण छे।' पृ. ३४०

लोंकाशाह के समकालीन अथवा उनके नजदीक के काल में रचनायें हुई, उनसे ही लोंकाशाह का वास्तविक चरित्र मिल सकता है। सात लेखकों की प्राचीन कृतियों से कुछ सत्यता प्राप्त हों सकती है। उसमें से पाँच कृतियों को नगीनदास शेठ इस प्रकार बताते है -

१. वि. सं. १५४३ 'सिद्धांत चोपाई' लेखक पं. मुनिश्री लावण्यसमय

२. वि. सं. १५४४, 'सिद्धांत सारोद्धार' लेखक खरतरगच्छीय जिनहर्षसूरि

शिष्य उपाध्याय कमलसंयम ।

३. वि. सं. १५४४, मुनिश्री वीकाकृत 'उत्सूत्र निराकरण बत्रीसी' ।

४. वि. सं. १५७८ 'दयाधर्म चोपाइ' लेखक - लोंकागच्छीय यति भानुचंद्र

५. 'लोंकाशाह का सिलोका' लेखक-लोंकागच्छीय यति केशवजी ऋषि - १७ वी सदी

'आ सर्व अेटले पांचेय लेखकोअे लोंकाशाह ना अवर्णवाद बोलवा माटे नथी लख्यु पण ते वखतनी परिस्थिति जणाववा माटे लख्युं छे । अने पहेला त्रण लेखकोअे लोंकाशाह नी मान्यता जैन धर्म अने जैन सिद्धांत विरुद्ध छे ते बतावबा माटे सूत्रोनी साखो टांकीने लखेलु छे अेटले शंकाने स्थान रहेतुं नथी । तेथी स्थानकवासीओ मताग्रही, हठाग्रही बनवा के रहेवा मांगता न होय, तो तेमणे सत्य जाणवुं जोइअे, सत्य कबुल करवुं जोइअे अने खोटी मान्यता छोडवी जोइअे ।' पृ. ३४७

'लोंकाशाह एजे धार्मिक क्रियाओं वगेरेनो बहिष्कार अथवा निषेध करेलो ते बाबत लोंकागच्छना यतिओअे, मूर्तिपूजक यतिओअे, दिगंबर लेखकोअे तथा तपगाच्छना विरोधी कडुआशाह वगेरेअे, बधाअे अेकसरखी रीते अेकसरखी ज वात करी छे । तो शुं अे बधाज लोंकाशाह ना विरोधी हता ? नही ज, अेथी पण पूरवार थाय छे के लोंकाशाह संबंधी प्राचीन लेखकोअे जे लख्युं छे ते साचुं ज लख्युं छे । छता ते साहित्यने साचु नहि माननारने दुराग्रही, कदाग्रही अने हठाग्रही ज कही शकाय अने ए आग्रहो मिथ्यात्वना ज अंशो गणी शकाय ।' पृ. ३५०

इसके अलावा ६. 'तरण तारण श्रावकाचार' दिगंबर तारण स्वामी १६ वी सदी और ७. 'भद्रबाहु चरित्र' दिगंबर रत्ननंदी १६ वी सदी, ये दो कृतियाँ भी मिलती है, उनमें भी उपरोक्त पांच कृतियों में बतायी बातें हैं ।

उपरोक्त सभी कृतियों में भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलने पर भी लोंकाशाह का जैन साधुओ द्वारा अपमान हुआ, इस विषय में एकमत है ।

संक्षेप में उपर की कृतियों से साररुप यह हकीकत प्राप्त होती है कि लोंकाशाह ने मूर्ति, मूर्तिपूजा सिद्धांत से विरुद्ध है, इसलिये उसका विरोध नहीं किया, परंतु यतियों के साथ एवं संघ के साथ झगडे के कारण क्रोधावेश में यति और संघ का विरोध किया।

यति सूत्र की बात करें इसलिये सूत्र का विरोध किया। यति सामायिक वगैरह धार्मिक क्रिया का कहे इसलिये धार्मिक क्रिया का विरोध किया। यति मूर्तिपूजा का कहे इसलिए मूर्तिपूजा का विरोध किया। संघ के साथ झगडा होने से दान, स्वामिवात्सल्य वगैरह का विरोध किया। लोंकाशाह -

१. सूत्रों को नहीं मानते थे।

२. सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, प्रत्याख्यान नहीं मानते थे।

३. दान, मंदिर, मूर्ति - मूर्तिपूजा नहीं मानते थे।

यह हकीकत उनके समकालीन - निकटकालीन साहित्य से प्राप्त होती है। लोंकाशाह को धार्मिक क्रियाओं का विरोध होने से उसका मत नहीं चल सके ऐसा था, इसलिए उनके अनुयायियों ने लोंकाशाह के बाद बदल करके धार्मिक क्रियाओं का स्वीकार किया, बत्तीस आगम मान्य किये, मूर्ति-मूर्तिपूजा मान्य की, जो लोंकागच्छ में चालु थी।

स्थानकवासी जो अभी मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं, उसका प्रारंभ मुनि धर्मसिंहजी और लवजी ऋषिने किया। सं. १६८५ में शिवजी गुरु से अलग पडकर धर्मसिंहजी ने दरियापुरी संप्रदाय स्थापन किया। सं. १६९२ में बजरंगजी गुरु से अलग पडकर स्वयं वेश पहनकर लवजी ने खंभात संप्रदाय की शरुआत की। उसके बाद में सं. १९१६ में धर्मदासजी ने दीक्षा ली। ये तीसरे क्रियोद्धारक बने। ये धर्मसिंहजी तथा लवजी में से एक को भी नहीं मानते थे। धर्मसिंहजी ने आठकोटी मत चलाया। लवजी नें सं. १७०८ से २४ घंटे मुहपत्ती का आग्रह चलाया। उसको इनके दुसरे क्रियोद्धारकों ने भी अपनाया। तीनोंने मूर्ति-मूर्तिपूजा का विरोध वापिस चालु किया। धर्मसिंहजी और लवजी सुरत में मिले थे। ये दोनों एक दुसरे से सहमत नहीं हुए, इतना ही नहीं, वे एक दुसरे को जिनाज्ञाभंजक और मिथ्यात्वी तक कहते थे।

"मासिक धर्म में धर्मानुष्ठान : संवाद" की समीक्षा

इस संवादमें स्थानकवासी समाज की शास्त्र और लोकविरुद्ध मान्यता को कुतर्क से सिद्ध करने का प्रयास लेखक महाशयने किया है, जो निम्नोक्त रीति से असिद्ध हो जाता है -

१. अभिधान - राजेन्द्र कोष भाग १ पृ. ८२७ के आधार पर सत्शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है, यह बताया। परंतु उस, कोष में 'उनमें सूत्र के मूल पाठ का अध्ययन उच्चारण नही कल्पता' यह बात नहीं है अपने घर की कल्पित बात है। अस्वाध्याय केवल सूत्र का ही है, अर्थ का नहीं, इसका कोई आगम पाठ नहीं है। तो लेखक की ऐसी आगमविरुद्ध बात कैसे मानी जाएगी ?

२. सूत्र-अर्थ इन दोनों में अर्थबलवान है। सूत्र गणधररचित है तो अर्थ तीर्थंकर कथित है। उसकी अनाराधना में प्रायाश्चित भी अधिक है। तो उसकी असज्झाय क्यों नहीं ? अर्थ से यहाँ पर निर्युक्ति - भाष्य - चूर्णि - टीका से प्राप्त परंपरागत अर्थ अभिप्रेत है, जो सूत्र से अविरुद्ध है। टीकाकारादि महापुरुष भी पूर्व टीकादि के आधार से ही अर्थ करते थे, अपनी कल्पना से नहीं, यह टीकादि में अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है। स्थानवासियों के स्वकल्पित - मनमाने अर्थ सूत्रविरोधी है, जिनमें काल्पनिकता के कारण परस्पर एक वाक्यता भी नहीं है। वे अर्थ नही परंतु अनर्थ है।

३. व्यवहारादि सूत्रों की पाटे बांधकर स्वाध्याय वगैरह की सभी बातें आपवादिक बातें है, जो साधु साध्वी के लिये है। उसके आधार पर सभी जगह गृहस्थादि सभी को धर्मक्रियाओं में उसकी छूट देना, अपवाद का दुरुपयोग, अस्थान प्रयोगादि स्वरुप विराधकता है।

संवाद के बीच में साधुके मोक समाचारी आदि की बातें लिखी उसका निराकरण यह है कि -

४. जिस प्रकार से गृहस्थ जगह - जगह पर शौच करता है, वैसा साधु का आचार नही है। अतः गृहस्थ विशेष शुद्धि के कारण शौचधर्मी है। आवश्यक शौच का तो साधु को भी शास्त्र में विधान है ही। जहाँ पर

आचारांग सूत्र में मोक समाचारी शब्द है, वहाँ पर स्पष्ट शब्दों में कार्यवशात् यानि कारणिक आपवादिक लेने का सूचन है, सार्वत्रिक नहीं । अतः मोक समाचार सार्वत्रिक नही है, जल के अभाव में रात्रि आदि में उसे आपत्कालीन समझना चाहिये । निशीथ सूत्र की चूर्णि गाथा नं. ८९८ में स्पष्ट रीति से कारणिक देश-उच्छोलणा बतायी है ।

"जेत्तियमेत्तं तु लेवेणंति असज्झातियमुत्तपुरीसादिणा जति सरीरावयवेण चलणादि गातं लेवाडितं तस्स तत्तियमेत्तं धोवे ।" मतलब कि मूत्र - पुरिस के अशुचि से शरीर का पैर वगैरह जितना भाग बिगडे उतना ही पानी से शुद्ध करें । अब पाठक खुद ही विचारें कि लेखक शास्त्रविरुद्ध उन्मार्ग की प्ररुपणा करते है या नहीं ?

५. निशीथ सूत्र में रात्रि में आहार पानी रखने का प्रायश्चित है, उससे आपत्काल में क्वचित् शरीरबाधा में मोकसमाचार सिद्ध होता है । दिन में और सार्वत्रिक नहीं ।

आगमशास्त्र में जहाँ पर यह आपवादिक बात बतायी है, वहीं पर रात को पानी रखने का अपवाद भी बताया ही है । अतः रात को पानी रखने में दोष और मोकसमाचारी निर्दोष कहना शास्त्र की अज्ञानता है । दोनों वस्तु आपवादिक है ।

अतः वर्तमानकाल में विशेष शुद्धि, धर्मनिंदा आदि के कारण आवश्यकता में रात्रि में पानी रखने की, पूर्वाचार्यों से आपवादिक गीतार्थ आचरणा चालु हुई है वह भी उचित ही है ।

६. लेखक महाशय जो साधु - साध्वी को परस्पर एक-दुसरे का मूत्र लेना वगैरह लोक और शास्त्र विरुद्ध बात लिखते है, वह उनकी अज्ञानता है । सूत्र में तो उल्टा उसका स्पष्ट शब्दों में निषेध और प्रायश्चित बताया है । इसलिए शास्त्रकार भगवंत फरमाते है, ऐसे अयोग्यों के हाथ में शास्त्र जाने पर वह 'शस्त्र' बनता है । जिनशासन का और संघ का घातक बनता है । ऐसी विरुद्ध बातें छपवाने से स्पष्ट ही (लेखक श्री के शब्दों में) जिनधर्म को लजाकर शर्महीन बनते है और व्यर्थ ही लोक हंसी के पात्र बनते है ।

शास्त्र में अनलसूत्र में दीक्षा के अयोग्य में रुग्ण - रोगी है, उसे दीक्षा नहीं दी जाती। परंतु दीक्षा के बाद कोई रोगी बने तो उसका पालन किया जाता है। वैसे ही स्त्रियों को मासिक धर्म में धर्मानुष्ठानादि निषिद्ध होने पर भी साध्वीजी एवं पौषध में रही हुई स्त्रीको मासिक धर्म आ जाने पर यतनापूर्वक अनुष्ठानादि करना विहित है। ये नियम नये नहीं घडे है, पूर्वाचार्यों से चली आती अविच्छिन्न परंपरा से सिद्ध है। जिससे धर्म आराधना में अंतराय नही लगता है। उल्टा इन नियमों का भंग भयंकर आशातना का कारण बनता है।

आगम में जो आपवादिक वाचना का विधान है, वह भी साध्वीजी के लिए है, गहस्थों के लिये नहीं है, जिससे सर्वज्ञों के विधानों को दूषित करने के आक्षेप या तो अज्ञानता प्रयुक्त अथवा तो अभिनिवेश प्रयुक्त है। जो सूत्रविषय के अनधिकारी है, उनमें सूत्र को लगाना सर्वज्ञों के आगम को दूषित करना है।

एक्सीडेंट में खून बहते रहने के प्रसंग में एवं दीर्घकालीन रोग आदि में मनमें नमस्कार मंत्रादि का स्मरण कर ही सकता है, दुसरे भी उसे आराधना करा सकते हैं। मनमें नमस्कार मंत्र का स्मरण किसी भी अवस्था में निषिद्ध नहीं है। जिससे कोई विरोध नही है।

इसलिए आगम और अविच्छिन्न परंपरा से सिद्ध वस्तु को कुतर्कों से असिद्ध करने की चेष्टा ही वास्तविक मूढता है। शास्त्र में 'लोगविरुद्धच्चाओ' यानि लोक विरुद्ध के त्याग की बात आती है, विज्ञान से भी मासिक का अपालन अनेक दोषों का कारण सिद्ध है। ऐसी प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का अपलाप करना और लोकविरुद्ध का आचरण करना क्या जिनशासन बता सकता है ? कदापि नहीं !

सामान्य फोडा फुटना - खून वगैरह से मासिक धर्म में बहुत ही अंतर है। उसका पालन नहीं करना अनेक दोषों का कारण है। जो वैज्ञनिक प्रमाणों से भी सिद्ध है, वह इस प्रकार -

१. डॉ. सीके ने देखा -फूलों का गुच्छा दुसरे दिन एकदम मुरझा गया था। ऐसा कभी होता नहीं था। उस ऋतु में वे फूल कई दिनों तक ताजे रहते थे। उसकी तलाश करने पर पता चला कि जिस नौकरानी ने उसे रखे थे वह

रजस्वला थी। उसने बताया - मेरे पीरीयडके दिनों में मैं जब-जब ताज़े फूलों को स्पर्श करती हुं, वे मुरझा जाते हैं। डॉ. सीके ने उसकी प्रायोगिक जाँच की - एक ही प्रकार के, एक ही समय में लिए हुए फूल उस नौकरानी और दुसरी स्त्री को दिये। रजस्वला स्त्री के फूल ४८ घंटे में सुक गये, दुसरे ४८ घंटे में उसकी पंखुडियां गिर गयी। जबकि दुसरी स्त्री के फूल दुसरे दिन भी ताजे रहे और चौथे दिन मुरझायें।

२. अमेरिका में प्रसिद्ध जोन होप कींस युनिवर्सिटी के लेबोरेटरी में मार्कर और लोबीन दो लेडी डॉक्टरोंने प्रो. सीके के प्रयोग, वनस्पति के पौंधोपर करके सिद्ध किया कि मासिक प्रसंग में स्त्री के शरीर में 'मीनोटोक्सिन' नाम का जहर उत्पन्न होता है। जिसका 'केमिकल फोर्म्युला' 'ओक्सीकोलेस्टरीन' के जहर से मिलता है। उस काल में घर का कार्य वर्ज्य है, यह सचमुच सत्य और सचोट है।

३. वीएना युनिवर्सिटी के प्रध्यापक डॉ. सीकी ने मेडिकल रीव्यु में मासिक धर्म संबंधी विस्तृत नोंध में बताया कि - रजस्वला स्त्री के स्पर्श की चेतन सृष्टि पर बहुत ही बुरी असर होती है। उन दिनों में जहर उसके श्वासोश्वास में नहीं, परंतु पसीने में होता है; जो जहरीला पसीना रक्तकणों द्वारा बाहर निकलता है। वह जहर १०० डिग्री से उबलते पानी में भी नष्ट नहीं होता है। गरमी में रखने पर या पानी में उबलने पर भी वनस्पति सृष्टि पर असर करने की उसकी शक्ति में फर्क नहीं पडता है।

४. प्राचीन वैज्ञानिक प्लीनी स्पष्ट शब्दों में कहता है -

'मासिक धर्मवाली स्त्री की हाजरी में दारु का स्वाद बिगडता है। पेड पर से फल खिरते है, खिले हुए फल - फूल मुरझाते है। बर्तनों को जंग लगता है। काँच वगैरह की चमक कम होती है। धारदार हाथियारों की धार पर भी असर होती है। लेकिन यह सब असर धीमी गति से होने से ख्याल नहीं आता है।

५. ई.स. १८२० में डॉ. बीसेके ने सायन्टीफिक प्रयोग द्वारा लिखा है कि स्त्री की चमडीमें मीनोटोक्सीन नाम का विष मासिक धर्म में पैदा होता

है । दुसरे के शरीर के स्पर्शमात्र से अनेक रोगों के जर्म्स का वपन करता है ।'

६. ऋतुवंती स्त्री की दृष्टि से नये पापड-बडी का काला पडना, उसकी छाया से भी पापड - वडी में विकृति अनेंकों को अनुभव सिद्ध है ।

७. रेशम और शक्कर के कारखानों में प्रयोग द्वारा सिद्ध किया गया है कि नया रेशम और शक्कर ऋतुवंती स्त्री की हाजरी से काली पडते है ।

८. 'नवनीत' गुजराती डायजस्ट १९६२ सप्टेंबर के अंक में कहा है कि - मक्का में रहा 'असवद' नाम का पत्थर जो मुसलमानों में पूजनीक है, वह रजस्वला स्त्री के स्पर्श से काला पडा । आज भी उसकी कालिमा मौजूद है ।

९. ईसाइयों के बाईबल में भी कहा है कि "स्त्रियों को मासिक प्रसंग में सात दिन अलग बैठना चाहिये ।"

१०. अफ्रिका - कांगो नदी के तट के लोग, न्युजीलेंड में अमुक स्थलों में, दक्षिण अमेरिका ओरोनोकीनो की दरी में, साउथ आयर्लेंड, सीरिया वगैरह अनेक देशों में अलग-अलग रीति से मासिक मर्यादा का पालन करते हैं ।

चुस्त मुसलमानों में भी मासिक मर्यादाका पालन किया जाता हैं ।

इस प्रकार अनुभव से, लोक से, शास्त्र और विज्ञान से सिद्ध मासिक मर्यादा का निषेध करना ही वास्तव में मूढता है । जिन दिनों में लोक व्यवहार भी गर्हित है, दोषों के कारण है, उन दिनों में पवित्र धर्मानुष्ठान और परम पवित्र आगम के अर्थादि का स्वाध्याय कैसे हो सकता है ? यह तो मंदबुद्धि भी समझ सकता है ।

आशातना से बचने हेतु धर्मानुष्ठान न करे परंतु समय का सदुपयोग करते हुए मनमें अनुप्रेक्षा करके धर्मध्यान में लीन होना चाहिये, यह पूर्वाचार्यों को इष्ट है । अगर कोई प्रमाद या अज्ञानता से सावद्य कार्य करें या आलस्य करें और घर में इधर - उधर चक्कर काटें, उसमें पूर्वाचार्यों का क्या दोष है ?

किसी अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा देने की मनाई करने पर, उस व्यक्ति के संसार में रहकर किये जानेवाले पापों का दोष क्या गुरु को लगता है ? नहीं। उसी तरह पूर्वाचार्यों द्वारा बनायी मर्यादाओं के हार्द को समझना एवं पालन करना जरुरी है, अन्यथा संसार वृद्धि हुए बिना नहीं रहती है ।

"मंदिर : आगम में प्रक्षेप" की समीक्षा

मंदिर-मूर्ति विरोध के अभिनिवेश की धून में लेखकश्री भान ही भूल जाते है, अंटसंट लिखते है - "अन्य मत के शास्त्रों का भी रचनाकाल लेखन काल के बाद का ही समझना चाहिये"

अपने यहाँ आगमशास्त्र गुरुगम से मौखिक परंपरा से केवल साधुओं को ही मिलता था। आगमेतर जैन साहित्य और अजैन साहित्य भी देवर्द्धिगणि ने आगम लेखन करवाया, उसके पूर्व पुस्तकारुढ था ही। देवर्द्धि गणि के पूर्व मे भी वाचनाओं में शास्त्रलेखन हुआ था, ऐसा भी स्पष्ट उल्लेख है। परमात्मा के समवसरण में ३६३ पाखंडी बैठते थे, उनके मत के शास्त्र वगैरह नहीं थे, यह कहना कुकल्पना मात्र है। अन्यमत के शास्त्रों का रचनाकाल लेखनकाल के बाद का कहना कितना उचित है ?

प्रामाणिक हस्तप्रतों के शुद्ध पाठों से सिद्ध किये बिना पूर्वाचार्यों की रचनाओं में बेधडक प्रक्षेप का बेधडक आक्षेप कदाग्रह प्रयुक्त है। सांप्रदायिक अभिनिवेश के कारण तथा मंदिर और अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा के प्रति कट्टर द्वेष के कारण प्रक्षेप की कुकल्पना होती है। तटस्थ दृष्टि से लेखक विचार करें तो समाधान स्वत हो जाते है। जैनागमों में परस्पर अमुक स्थानों में विरोध हो, वहां पर जैसे समाधान किया जाता है, उसी दृष्टि से सोचने पर प्रक्षेप महसूस नहीं होगा, विरोध भी महसूस नहीं होगा।

१. रावण तीर्थंकर बनेंगे, १५ भवों के बाद बनेंगे (त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र पर्व७ सर्ग १० श्लोक नं. २३२ से २४४) इसलिए जो तीर्थंकर नामकर्म बाँधा था, वह सम्यक्त्व की हाजरी में अनिकाचित बांधा था और अनिकाचित तीर्थंकर नामकर्मवाले ४ थी नरक में जाने में कोई विरोध नहीं है। वहां जाने पर उसकी उद्धलना भी शक्य है निकाचित तीर्थंकर नामकर्म वाले ४ थी नरक में नही जा सकते है। जिससे रावण की बातमें विरोध का गंध लेश भी नही है।

२. एक तीर्थ पर पाँव धरे तो मोक्ष, एक मंदिर बनावें तो मोक्ष वगैरह उटपटांग आक्षेप दिये है। ऐसा कोई मानता ही नही है। 'स्वलब्धि से अष्टापद गिरि पर जो जाता है वह उसी भव मे मोक्ष में जाता है' यह परमात्मा महावीर ने फरमाया और गौतम स्वामी वहाँ पर गये वगैरह की पुष्टि उत्तराध्ययन

सूत्रके १०वें अध्ययनकी निर्युक्ति से होती है । भगवती सूत्र १४ शतक ७ उद्देशा 'चिरसंसिट्ठोडसि गोयमा चिर संथुओडसि गोयमा' सूत्र का संबंध भी उक्त निर्युक्ति से ही बैठता है । अत: ऐसी बातों को कल्पित मानना आगमों की आशातना है ।

३. भगवान महावीर के १४००० साधु की संख्या स्वहस्तदीक्षित - स्वशिष्य की समझना ऐसा खुलासा अनेक जगह पर आता है । जिससे गौतमस्वामी के शिष्यों से विरोध नहीं है । भगवान के केवली की ७०० की संख्या स्वहस्तदीक्षित, स्वशिष्य साधुओं की अपेक्षा से लेना ।

४. कल्पसूत्र के बारे में बिना प्रमाण के उटपटांग बकवासो की विद्वद्सभा में कोई किंमत नहीं है । अति प्राचीन मथुरा के कंकाली टीले के लेखों से कल्पसूत्र की स्थविरावली प्रमाणित होने से कल्पसूत्र प्रमाणित सिद्ध होता ही है । समवायांग मूलसूत्र के 'कप्पस्स समोसरणं णेयं' पाठ से कल्पसूत्र की प्राचीनता सिद्ध होती है । दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति में भी कल्पसूत्र के वर्णन विभाग का 'पुरिम चरिमाण कप्पो मंगलं वद्धमाण तित्थम्मि

इअ परिकहिया जिणगणहराई थेरावली चरित्तं'

के द्वारा अतिदेश किया है ।

दशाश्रुतस्कंध की ८ वी (उदंशा) की चूर्णि में कल्पसूत्र के पाठों के अर्थ भी किये हुए है, जिससे चूर्णिकार कल्पसूत्र को दशाश्रुतस्कंध का विभाग ही मानते थे, यह स्पष्ट है ।अत: मलयगिरी आदि आचार्यों तक नामोनिशान भी नहीं था,यह कहना लेखक की अज्ञता को सूचित करता है ।

निर्युक्ति - भाष्यादि को स्वतंत्र ग्रंथ कहना अज्ञानता है । निर्युक्ति आदि सूत्र - आगम के उपर होने से उससे अभिन्न माने जाते है । भगवती आदि सूत्रों में भी सनिज्जुत्तिए वगैरह से उसी का द्योतन होता है । अत: आगमों के निर्देश से उनका भी निर्देश हो ही जाता है, श्रुत संख्या में अलग से क्यों गिनावें ?

अगर नंदी सूत्र में जिस' शास्त्र का उल्लेख नहीं हैं, वह पूर्वधर रचित नही हो सकता है" ऐसा मानोंगे तो १० पूर्वधर उमास्वाति रचित तत्त्वार्थ सूत्र भी आपके लिए अप्रमाण बन जायेगा क्योंकि उसका भी उल्लेख नंदी सूत्र में नहीं है ।

विद्वद्वर्य श्री पुण्यविजयजी म.सा. को अतिप्राचीन अगस्त्यसिंहसूरिजी की चूर्णि मिलने पर उन्होनें अपनी मान्यता बदलकर निर्युक्तिओं को अतिप्राचीन स्वीकार किया है, जो बात उन्होंने बृहत्कल्प के आमुख में स्पष्ट की है। अतः उनकी पुरानी बात को दोहराना कदाग्रह है।

'७२ शास्त्रों में से किसी में भी श्रावक अथवा साधु के द्वारा मूर्तिपूजा या मंदिर निर्माण का उल्लेख नहीं है।' इस प्रकार के और भी अनेकबार किए गये लेखक के उल्लेख सम्प्रदाय अभिनिवेश ही है।

प्राचीनकाल में प्रतिमाशतक (महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.) आदि अनेक ग्रंथो में, एवं वर्तमान में भी ३२ आगमों मे मूर्तिपूजा, मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास, प्रतिमापूजन, जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा आदि अनेक ग्रंथों में सप्रमाण सचोट आगमों के मूर्ति और मूर्तिपूजा के पाठों की सिद्धि होने पर भी अभिनिवेश से उनके विरुद्ध अर्थ करने - उनको प्रक्षिप्त कहना और वापिस 'आगमों में मूर्तिपूजा नहीं है' ऐसी बकवास करना, महा-अभिनिवेश के सिवाय शक्य नहीं है।

लेखकश्री के 'हाथी के दाँत खाने के अन्य, दिखाने के अन्य', 'दुहरी चाल चलना वगैरह दिये हुए आक्षेप अज्ञानतापूर्ण है। हम आगमशास्त्र और आगमेतेर शास्त्र दोनों को प्रमाण मानते हैं। प्रामाण्य में फरक जरुर पडेगा। जैसे आप अंग और उपांग दोनों ३२ सूत्रों में होने परभी प्रामाण्य में फरक मानते है। जैसे केवलज्ञानी अवधिज्ञानी दोनों प्रमाण होने पर भी प्रामाण्य में तरतमता है। उसी प्रकार पूर्वाचार्यों के ग्रंथ भी कोई आगममूलक, कोई पूर्व में से उद्धृत, कोई अविच्छिन्न परंपरामूलक होने से प्रमाण ही माने जाते है, परंतु आगम और आगमेतर पूर्वाचार्यो के ग्रंथ की प्रामाण्यता में तरतमता रहेगी। अतः ४५ आगम में उनको गिनने का प्रश्न रहता ही नहीं है। स्थानकवासी ३२ सूत्रों के सिवाय सभी पूर्वाचार्यों के ग्रंथ भी अप्रमाण गिनते है और हजारों बातें पूर्वाचार्यों के ग्रंथों की लेते है, आचरते है, मानते हैं, फिरभी वे प्रमाण नहीं, प्रमाण नहीं का रटण करते है। अब विचार कीजिये 'हाथी के दाँत खाने के अन्य, दिखाने के अन्य' 'दुहरी चाल चलना' वगैरह बातें हमको लागु होती है या आपको ?

"णमोत्थुणं पाठ के प्रक्षेप" की समीक्षा

इस प्रकरण में, लेखकश्री 'जैन साहित्य मां विकार थवाथी थयेली हानि' नामक पुस्तक के लेखक को मूर्तिपूजक समाज के प्रतिष्ठित विद्वान कहते है, वह उनकी अनभिज्ञता है, क्योंकि उक्त लेखक तो मूर्तिपूजक समाज से बहिष्कृत किये हुए थे, उन्होंने अनेक शास्त्रविरुद्ध बातें लिखी है। पं. कल्याणविजयजी जैसे विद्वानों ने जिसकी समालोचना भी की है। ऐसी व्यक्तियों को आगे करके 'मूर्तिपूजा आगमिक नहीं' 'णमोत्थुणं प्रक्षिप्त है' वगैरह बाते करना, कमजोर नींव पर १०० माल की इमारत खडी करने की चेष्टा है।

द्रौपदी प्रतिमापूजन संबंधी वर्णन में टीकाकार णमोत्थुणं पाठ को महत्त्व नहीं देते, उनके सामने दोनों प्रकार की प्रतियाँ उपलब्ध थी, वगैरह पीटीपीटायी बातों को लेखक दोहराते है। ज्ञातासूत्र में संक्षिप्त और बृहद् दोनों वाचनाओं में णमोत्थुणं का पाठ है ही। टीकाकार के सामने णमोत्थुणं पाठ वाली ही प्रतियां थी।' इन सब बातों की अनेक प्रमाणों से 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पुस्तक में पृ. १२४ से पृ. १३६ में सिद्धि की है। उसमें ८-१० अतिप्राचीन जैसलमेर-खंभात आदि के हस्तप्रतियों के आधार से णमोत्थुणं पाठ की सिद्धि की है। वर्तमान में उपलब्ध सभी प्रतियों में नमुत्थुणं पाठ है। एक भी प्रति नमुत्थुणं पाठ बिना की नहीं मिल रही है, तो प्रक्षेप की कुकल्पना कितनी उचित हैं ? टीकाकार पूर्वाचार्य खूब ही भवभीरु थे। उनके सामने उनसे भी प्राचीन टीकाएँ होगी, ऐसा अमुक टीकाओं के उल्लेख से ज्ञात होता है। 'पूर्वटीकाकृतस्तु आहु !' वगैरह उल्लेख आते है। अतः सूत्रों में जैसा पाठ है, उसी की टीका परंपरा से टीकाकार करते आये है। इस गुंजार के लेखक ने 'जैनागम सिद्ध मूर्तिपूजा' पुस्तक तटस्थापूर्वक पढ़ी होती तो, अनेक कुकल्पनाओं की बकवास नहीं करते। इनकी गुंजार में आती अनेक बातों के निष्पक्षता से सत्य समाधान उसमें दिये गये हैं।

वास्तविकता तो यह है कि जहाँ-जहाँ पर मूर्ति या मूर्तिपूजा की बात आगमों में आती है, वहाँ-वहाँ पर या तो उटपटांग अर्थ करके या तो प्रक्षेप-प्रक्षेप के मिथ्या आरोप से उसको उडाने की इनकी मानसिकता से स्पष्ट समझा जाता है कि लेखक को सत्यता का आग्रह नहीं है, परंतु पक्षराग का अभिनिवेश भरा पडा है । शांति से कोई सुज्ञ व्यक्ति विचार करें तो यह सरलता से समझ जाएगा की शास्त्रों एवं अन्य टीका - प्रकरणादि में जगह-जगह पर मूर्ति-मूर्तिपूजा को घुसाडने का प्रयोजन उस काल में था ही नहीं क्योंकि मूर्ति विरोधी पक्ष ही नहीं था । सभी विद्वान् एकमत से स्वीकारते है कि करीब ५०० वर्ष से ही लोंकाशाह से यह विरोध चालु हुआ है । अतः लेखक एवं उनके पक्षधर पूर्वाचार्यों पर नहीं परंतु गणधरचित सत्य आगमों पर ही प्रक्षिप्तता का झूठा कलंक दे रहे हैं ।

अनेक इतिहासकार स्पष्ट मानते हैं कि चैत्यवासियों में शिथिलता होने पर भी जैनागमों में एक अक्षर भी परिवर्तित करने से वे भयभीत थे । प्रक्षेप परिवर्तन तो निष्ठुर बनकर लेखक के पक्षधर ही कर रहे है । चोरी को छिपाने के लिये दुसरों पर गलत आक्षेप दे रहे हैं । "चोर कोटवाल को डंडे" नीति अपना रहे है । प्रमाण के लिए देखिये ।

इतिहास वेत्ता पं. श्री कल्याण वि.म. के शब्द -

जैन आगमों में कांटछांट :

लौंकामत का प्रादुर्भाव विक्रम सं. १५०८ में हुआ था और इस मत में से १८वीं शती के प्रारम्भ में अर्थात् १७०९ में मुख पर मुहपत्ति बांधने वाला स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला, इत्यादि बातों का विस्तृत वर्णन लौकागच्छ की पट्टावली में दिया जा चुका है । शाह लौंका ने तथा उनके अनुयायी ऋषियों ने मूर्तिपूजा का विरोध अवश्य किया था, परन्तु जैन आगमों में काटछांट करने का साहस किसीने नहीं किया था ।

सर्वप्रथम सं. १८६५ में स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी ने "समकितसार" नामक ग्रन्थ लिखकर मूर्तिपूजा के समर्थन में जो आगमों के

पाठ दिये थे उनकी समालोचना करके अर्थ-परिवर्तन द्वारा अपनी मान्यता का बचाव करने की चेष्टा की, परन्तु मूल-सूत्रों में परिवर्तन अथवा कांट-छांट करने का कातर प्रयास किसी ने नहीं किया।

उसके बाद स्थानकवासी साधु श्री अमोलकऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया। उस समय भी ऋषिजी ने कहीं-कहीं शब्द परिवर्तन के सिवाय पाठों पर कटार नहीं चलाई थी।

विक्रम की २१ वीं शती के प्रथम चरण में उन्हीं ३२ सूत्रों को "सुत्तागमे" इस शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित करवाने वाले श्री पुष्पकभिक्खू (श्री फूलचन्दजी) ने उक्त पाठों को जो उनकी दृष्टि में प्रक्षिप्त थे निकालकर ३२ आगमों का संशोधन किया है। उन्होंने जिन-जिन सूत्रों में से जो-जो पाठ निकाले हैं उनकी संक्षिप्त तालिका नीचे दी जाती है -

(१) श्री भगवती सूत्र में शतक २० । ३०९ । सू. ६८३ - ६८४ भगवतीसूत्र शतक ३ । ३०२ में से।

भगवतीसूत्र के अन्दर जंघाचारण विद्याचारणों के सम्बन्ध में नन्दीश्वर मानुषोत्तर पर्वत तथा मेरु पर्वत पर जाकर चैत्यवन्दन करने के पाठ मूल में से उड़ा दिए गए हैं।

(२) ज्ञाताधर्म-कथांग में द्रौपदी के द्वारा की गई जिनपूजा सम्बन्धी सारा का सारा पाठ हटा दिया है।

(३) स्थानांग सूत्र में आने वाले नन्दीश्वर के चैत्यों का अधिकार हटाया गया है।

(४) उपासक-दशांग सूत्र के आनन्द श्रावकाध्ययन में से सम्यक्त्वोच्चारण का आलापक निकाल दिया है।

(५) विपाकश्रुत में से मृगारानी के पुत्र को देखने जाने के पहले मृगादेवी ने गौतम स्वामी को मुंहपत्ति से मुंह बांधने की सूचना करने वाला पाठ उड़ा दिया है।

(६) औपपातिक सूत्र का मूल पाठ जिसमें अम्बडपरिव्राजक के सम्यक्त्व

उच्चरने का अधिकार था, वह हटा दिया गया है, क्योंकि उसमें "अरिहन्तचैत्य" और "अन्य तीर्थिक परिगृहीत अरिहन्त चैत्यों" का प्रसंग आता था।

(७) राजप्रश्नीय सूत्रों में सूर्याभदेव के विमान में रहे हुए सिद्धायतन में जिनप्रतिमाओं का वर्णन और सूर्याभदेव द्वारा किये हुए उन प्रतिमाओं के पूजन का वर्णन सम्पूर्ण हटा दिया है।

(८) जीवाभिगम सूत्र में किये गए विजयदेव की राजधानी के सिद्धायतन तथा जिनप्रतिमाओं का, नन्दीश्वर द्वीप के जिनचैत्यों का रुचक तथा कुण्डल द्वीप के जिनचैत्यों का, वर्णन निकाल दिया गया है। श्री जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देश में विरुद्ध जाने वाला जो पाठ था उसको हटा दिया है।

(९) इस प्रकार जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में आने वाले सिद्धायतन कूटों में से "आयतन" शब्द की हटाकर "सिद्धकूट" ऐसा नाम रक्खा है।

(१०) व्यवहार-सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३७ वे सूत्र के द्वितीय भाग में आने वाले "भावि जिनचेइअ" शब्द को हटा दिया है।

उपर्युक्त सभी पाठ स्थानकवासी साधु धर्मसिंहजी से लगाकर बीसवीं सदी के स्थानकवासी साधु श्री अमोलक ऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया तब तक सूत्रों में विद्यमान थे।

गतवर्ष सं. २०१९ के शीतकाल में जब हमने श्री पुष्फकभिक्खू सम्पादित "सुत्तागमे" नामक जैनसूत्रों के दोनों अंश पढ़े तो ज्ञात हुआ कि सूत्रों के इस नवीन प्रकाशन में श्री फूलचन्दजी (पुष्पक भिक्खू) ने बहुत ही गोलमाल किया है। सूत्रों के पाठ के पाठ निकालकर मूर्तिविरोधियों के लिए मार्ग निष्कण्टक बनाया है। मैंने प्रस्तुत सूत्रों के सम्पादन में की गई काटछांट के विषय में स्थानकवासी श्री जैनसंघ सहमत है या नहीं, यह जानने के लिए एक छोटा सा लेख तैयार कर "जनवाणी" कार्यालय जयपुर (राजस्थान) तथा चांदनी चौक देहली नं. ६ "जैनप्रकाश" कार्यालय को एक-एक नकल प्रकाशनार्थ भेजी, परन्तु उक्त लेख स्थानकवासी एक भी पत्रकार ने नहीं

छापा, तब इसकी नकल भावनगर के "जैन" पत्र के ऑफिस को भेजी और वह लेख जैन के "भगवान् महावीर-जन्म कल्याणक विशेषाङ्क" में छपकर प्रकट हुआ, हमारा वह संक्षिप्त लेख निम्नलिखित था।

श्री स्थानकवासी जैनसंघ से प्रश्न :

पिछले लगभग अर्द्धशताब्दी जितने जीवन में अनेक विषयों पर गुजराती तथा हिन्दी भाषा में मैने अनेक लेख तथा निबन्ध लिखे हैं, परन्तु श्री स्थानकवासी जैनसंघ को सम्बोधन करके लिखने का यह पहला ही प्रसंग है, इसका कारण है "श्री पुप्फभिक्खू" द्वारा संशोधित और सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक का अध्ययन।

पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन जैन साहित्य का स्वाध्याय करना मेरे लिए नियम सा हो गया है, इस नियम के फलस्वरूप मैंने "सुत्तागमे" के दोनों अंश पढे, पढने से मेरे जीवन में कभी न होने वाला दुःख का अनुभव हुआ।

मेरा झुकाव इतिहास संशोधन की तरफ होने से "श्री लौंकागच्छ" तथा "श्री बाईस सम्प्रदाय" के इतिहास का भी मैंने पर्याप्त अवलोकन किया है। लौंकाशाह के मत-प्रचार के बाद में लिखी गई अनेक हस्तलिखित पुस्तकों से इस सम्प्रदाय की पर्याप्त जानकारी भी प्राप्त की, फिर भी इस विषय में कलम चलाने का विचार कभी नहीं किया, क्योंकि संप्रदायों के आपसी संघर्ष का जो परिणाम निकलता है उसे में अच्छी तरह जानता था। लौकाशाह के मौलिक मन्तव्य क्या थे, उसको उनके अनुयायियों के द्वारा १६ वीं शताब्दी के अन्त में लिखित एक चर्चा-ग्रन्थ को पढ़ कर मैं इस विषय में अच्छी तरह वाकिफ हो गया था। उस हस्तलिखित ग्रन्थ के बाद में बनी हुई अनेक इस गच्छ की पट्टाविलयों तथा अन्य साहित्य का भी मेरे पास अच्छा संग्रह है। स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी द्वारा संदृब्ध "समकितसार" और इसके उत्तर में श्री विजयानन्दसूरि-लिखित "सम्यक्त्व शल्योद्धार" तथा श्री अमोलकऋषिजी द्वारा प्रकाशित ३२ सूत्रों में से भी कतिपय सूत्र पढ़े थे। यह

सब होने पर भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरुद्ध लिखने की मेरी भावना नहीं हुई। यद्यपि कई स्थानकवासी विद्वानों ने अपने मत के बाधक होने वाले सूत्रपाठों के कुछ शब्दों के अर्थ जरूर बदले थे, परन्तु सूत्रों में से बाधक पाठों को किसी ने हटाया नहीं था। लौंकागच्छ की उत्पत्ति से लगभग पोने पांच सो वर्षों के बाद श्री पुप्फभिक्खू तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उन बाधक पाठों पर सर्वप्रथम कैंची चलाई है, यह जानकर मन में अपार ग्लानि हुई। मैं जानता था कि स्थानकवासी सम्प्रदाय के साथ मेरा सद्भाव है, वैसा ही बना रहेगा, परन्तु पुप्फभिक्खू के उक्त कार्य से मेरे दिल पर जो आघात पहुँचा है, वह सदा के लिए अमिट रहेगा।

भगवतीसूत्र ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, विपाकसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र आदि में जहां-जहां जिनप्रतिमा-पूजन जिनचैत्यवन्दन, सिद्धायतन, मुहपत्ति बांधने के विरुद्ध जो जो सूत्रपाठ थे, उनका सफाया करके श्री भिक्खूजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय को निरापद बनाने के लिए एक अप्रामाणिक और कापुरुषोचित कार्य किया है, इसमें कोई शंका नहीं, परन्तु इस कार्य के सम्बन्ध में मैं यह जानना चाहता हूँ कि "सुत्तागमे" छपवाने में सहायता देने वाले गृहस्थ और सुत्तागमे पर अच्छी-अच्छी सम्मतियां प्रदान करने वाले विद्वान् मुनिवर्य मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट करेंगे कि इस कार्य में वे स्वयं सहमत हैं या नहीं ?

उपर्युक्त मेरा लेख छपने के बाद "अखिल भारत स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स" के माननीय मन्त्री और इस संस्था के गुजराती साप्ताहिक मुखपत्र "जैन-प्रकाश" के सम्पादक श्रीयुत् खीमचन्दभाई मगनलाल बोहरा द्वारा "जैन" पत्र के सम्पादक पर तारीख १-५-६२ को लिखे गये पत्र में लिखा था कि - "सुत्तागमें" पुस्तक श्री पुप्फभिक्खू महाराज का खानगी प्रकाशन है, जिसके साथ "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ" अथवा "अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स" का कोई सम्बन्ध नहीं है, सो जानिएगा। "इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में श्रमणसंघ के अधिकारी मुनिराजों

ने तथा कॉन्फ्रेन्स ने श्री पुप्फभिक्खू महाराज के साथ पत्र व्यवहार भी किया हैं, इसके अतिरिक्त यह प्रश्नश्रमणसंघ के विचारणीय प्रश्नों पर रक्खा गया है और श्रमणसंघ के अधिकारी मुनिराज थोड़े समय में मिलेंगे तब इस पुस्तक प्रकाशन के विषय में आवश्यक निर्णय करने का सोचा है।"

कुछ समय के बाद पत्र में लिखे मुजब ता. ०७-०६-६२ के "जैन प्रकाश" में स्थानकवासी श्रमणसंघ की कार्यवाहक समिति ने "सुत्तागम" पुस्तक को अप्रमाणित ठहराने वाला नीचे लिखा प्रस्ताव सर्वानुमति से पास किया -

"मन्त्री श्री फूलचन्दजी महाराज ने "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के प्रकाशन में आगमों में कतिपय मूल पाठ निकाल दिए है, वह योग्य नहीं है। शास्त्र के मूल पाठों में कमी करने का किसी को अधिकार नहीं है, इसलिए "सुत्तागमे" नामक सूत्र के प्रस्तुत प्रकाशन को यह कार्यवाहक समिति अप्रमाणित उद्घोषित करती है।"

उपर्युक्त स्थानकवासी श्रमणसंघ की समिति का प्रस्ताव प्रसिद्ध होने के बाद इस विषय में अधिक लिखना ठीक नही समझा और चर्चा वहीं स्थगित हो गई।

पट्टावली के विवरण में श्री पुप्फभिक्खू के "सुत्तागमे" नामक सूत्रों के प्रकाशन के सम्बन्ध में पुप्फभिक्खूजी द्वारा किये गये पाठ परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक समझ कर ऊपर निकाले हुए सूत्रपाठों की तालिका दी है। पुप्फभिक्खूजी का पुरुषार्थ इतना करके ही पूरा नहीं हुआ है, उन्होंने सूत्रों में से चैत्य शब्द को तो इस प्रकार लुप्त कर दिया है कि सारा प्रकाशन पढ़ लेने पर भी शायद ही एकाध जगह चैत्य शब्द दृष्टिगोचर हो जाये।

भिक्खूजी की चैत्य शब्द पर इतनी अकृपा कैसे हुई यह समझ में नही आता, मन्दिर अथवा मूर्तिवाचक "चैत्य" शब्द को ही काट दिया होता तो बात और थी। पर आपने चुन-चुन कर "गुणशिलकचैत्य", "पूर्णभद्रचैत्य",

और चोबीस तीर्थङ्करों के "चैत्यवृक्ष" आदि जो कोई भी चैत्यान्त शब्द सूत्रों में आया, उसको नेस्तनाबूद कर दिया। इनके पुरोगामी ऋषि जेठमलजी आदि "चैत्य" शब्द को "व्यन्तर का मन्दिर" मानकर इसको निभाते थे, उनके बाद के भी बीसवीं शती तक के स्थानकवासी लेखक "चैत्यशब्द" का कहीं 'ज्ञान', कहीं 'साधु', कहीं 'व्यन्तर देव का मन्दिर' मानकर सूत्रों में इन शब्दों को निभा रहे थे, परन्तु "श्री पुप्फ भिक्खूजी" को मालूम हुआ कि इन शब्दों के अर्थ बदलकर चैत्यादि शब्द रहने देना यह एक प्रकार की लीपापोती है। "चैत्यशब्द" जब तक सूत्रों में बना रहेगा तब तक मूर्तिपूजा के विरोध में लड़ना झगडना बेकार है, यह सोचकर ही आपने "चैत्य" "आयतन" "जिनघर", "चैत्यवृक्ष" आदि शब्दों को निकालकर अपना मार्ग निष्कंटक बनाया है। ठीक है, इनकी समझ से तो यह एक पुरुषार्थ किया है, परन्तु इस करतूत से इनके सूत्रों में जो नवीनता प्रविष्ट हुई है, उसका परिणाम भविष्य में ज्ञात होगा।

पुप्फभिक्खूजी ने पूजा-विषयक सूत्र-पाठों, मन्दिरों और मूर्तिविषयक शब्दों को निकालकर यह सिद्ध किया है, कि इनके पूर्ववर्ती शाह लौंका, धर्मसिंह, ऋषि जेठमलजी और श्री अमोलक ऋषिजी आदि शब्दों का अर्थ बदलकर मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे, वह गलत था।

(पट्टावली पराग पृ. ४४७ से.पृ. ४५५)

इस सत्य घटनाको पढकर पाठक समझ सकते है, "ऐसे प्रक्षेपयुक्त आगमों के प्रति अंधश्रद्धा बुद्धि न रखकर, विवेक बद्धि रखना ही उपयुक्त है" ये वचन लेखकश्री के घर के आगमों के लिए ही लागु पडेंगे। तथा "प्रक्षेपयुक्त आगम" लेखक के इन शब्दों से आगम एवं पूर्वाचार्यो के प्रति उनकी भावना स्पष्ट प्रगट होती है।

आगमो के पाठों की प्रामाणिकता को देवेन्द्रमुनिशास्त्री ने भी स्वीकारी है। देखे उन्हीं के शब्द -

"अंग साहित्य में भगवान महावीर की वाणी अपने बहुत कुछ अंशों में ज्यों की त्यों अब भी प्राप्त होती है। इस वाणी के तोडा-मरोडा नहीं गया है। यह जैन परम्परा की विशेषता रही कि अंगों को लिपिबद्ध करने वाले श्रमणों ने मूल शब्दों में कुछ भी हेरा -फेरी नहीं की, जैसा कि अन्य परम्पराओं में हुआ है। अंग एवं आगम साहित्य पर टीकाओं, चूर्णियों आदि की रचना हुई किन्तु आगम का मूल रूप ज्यों का त्यों रहा। साथ ही देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की यह उदारता रही कि जहाँ उन्हें पाठान्तर मिले वहाँ दोनों विचारों को ही तटस्थतापूर्वक लिपिबद्ध किया।"

(जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा पृ. ४४)

"मध्यकाल के घोटाले" की समीक्षा

इसमें पं. श्री कल्याणविजयजी के प्रबंध पारिजात के आधार पर पाठ दिया है एवं आगे भी इसकी विशेष जानकारी हेतु प्रबंध पारिजात के अध्ययन की भलामण की है। परंतु सारे प्रबंध परिजात में न तो इनका दिया पाठ है न इन्होंने लिखी ऐसी कोई बात है। अज्ञ पाठकों को गुमराह करने के लिए ऐसी मनघडंत बातें लिखते है। सत्यान्वेषी पाठक तो जाँचकर ही वस्तु को स्वीकारेंगे। बाकी अज्ञ पाठक तो अवश्य गुमराह हो जाते है, जिसका पाप लेखक के सिर पर रहेगा।

लेखक की चालबाजी देखिये - पं. श्री कल्याणविजयजी का मिथ्या सहारा लेकर अपनी खिचडी पकायी है, मनघडंत बातें लिखी है। पाठक मध्यकालादि के विषय में पं. श्री कल्याणविजयजी की मान्यता को जानने के लिये उनका ही पाठ देखें और लेखक की प्रामाणिकता का निर्णय करें।

"विक्रम की चौथी शती से ग्यारहवी शती तक शिथिलाचारी साधुओं का प्राबल्य हो चुका था। फिर भी वह उनका युग नहीं था। हम उसे उनकी बहुलता वाला युग कह सकते हैं, क्योंकि उस समय भी उद्यतविहारी साधुओं

की भी संख्या पर्याप्त प्रमाण में थी। शिथिलाचारी संख्या में अधिक होते हुए भी उद्यतविहारी संघ में अग्रगामी थे। स्नात्रमहोत्सव, प्रथमसमवसरण आदि प्रसंगो पर होने वाले श्रमण-सम्मेलनों में प्रमुखता उद्यतविहारियों की रहती थी। कई प्रसंगो पर उद्यतविहारी श्रमणों द्वारा पार्श्वस्थादि शिथिलाचारी फटकारे भी जाते थे, अधिकांश शिथिलताए तथापि उनमें का निम्नसतह तक पहुंच गया था और धीरे-धीरे उनकी संख्या कम होती जाती थी।

विक्रम की ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध तक शिथिलाचारी धीरे-धीरे नियतवासी हो चुके थे और समाज के ऊपर से उनका प्रभाव पर्याप्त रूप से हट चुका था। भले ही वे जातिगत गुरुओं के रूप में अमुक जातियों और कुलों से अपना सम्बन्ध बनाए हुए हों, परन्तु संघ पर से उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में मिट चुका था, इसी के परिणाम स्वरूप १२ वी शती के मध्यभाग तक जैनसंघ में अनेक नये गच्छ उत्पन्न होने लगे थे। पौर्णमिक, आंचलिक, खरतर, साधुपौर्णमिक और आगमिक गच्छ ये सभी १२वीं और १३ वीं शती में उत्पन्न हुए थे और इसका कारण शिथिलाचारी चैत्यवासी कहलाने वाले साधुओं की कमजोरी थी। यद्यपि उस समय में भी वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभगणि, मुनिचन्द्रसूरि, धनेश्वरसूरि, जगचन्द्रसूरि आदि अनेक उद्यतविहारी आचार्य और उनके शिष्य परिवार अप्रतिबद्ध विहार से विचरते थे, तथापि एक के बाद एक नये सुधारक गच्छों की सृष्टि से जैनसंघ में जो पूर्वकालीन संघटन चला आ रहा था वह विशृंखल हो गया।

इसी के परिणाम-स्वरूप शाह लौंका, शाह कडुआ आदि गृहस्थों को अपने पन्थ स्थापित करने का अवसर मिला था, न कि उनके खुद के पुरुषार्थ से। उपर्युक्त जैनसंघ की परिस्थिति का वर्णन पढ़कर विचारक समझ सकेंगे कि श्रमणसमुदाय में से अधिकांश शिथिलाचार के कारण निर्बल हो जाने से सुधारकों को नये गच्छ और गृहस्थों को श्रमणगण के विरुद्ध अपनी मान्यताओं को व्यापक बनाने का सुअवसर मिला था, किसी भी संस्था या समाज को बनाने में कठिन से कठिन पुरुषार्थ और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है, न

कि नष्ट करने में। समाज की कमजोरी का लाभ उठाकर क्रियोद्धार के नाम से नव गच्छसर्जकों ने तो अपने बाड़े मजबूत किये ही, पर इस अव्यवस्थित स्थिति को देखकर कतिपय श्रमणसंस्था के विरोधी गृहस्थों ने भी अपने-अपने अखाड़े खड़े किये और आपस के विरोधों और शिथिलाचारों से बलहीन बनी हुई श्रमणसंस्था का ध्वंस करने का कार्य शुरु किया।

लौंका तथा उसके अनुयायी मन्दिर तथा मूर्तियों की पूजा की अतिप्रवृत्तियों का उदाहरण दे देकर गृहस्थवर्ग को साधुओं से विरुद्ध बना रहे थे। कडुवा जैसे गृहस्थ मूर्तिपूजा के पक्षपाती होते हुए भी साधुओं के शिथिलाचर की बातों को महत्त्व दे देकर उनसे असहकार करने लगे, चीज बनाने में जो शक्ति व्यय करनी पड़ती है वह बिगाड़ने में नहीं। लौंकाशाह तथा उनके वेशधारी चेले हिंसा के विरोध में और दया के पक्ष में बनाई गई चोपाईयों के पुलिन्दे खोल खोलकर लोगों को सुनाते और कहते "देखो भगवान् ने दया में धर्म बताया है, तब आजकाल के यति स्वयं तो अपना आचार पालते नहीं और दूसरों को मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का उपदेश करके पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीवों की हिंसा करवाते हैं, बोलो धर्म दया, में कि हिंसा में ? उत्तर मिलता दया में," तब लौंका के चेले कहते "जब धर्म दया में है तो हिंसा को छोड़ों और दया पालो" अनपढ़ लोग, लौंका के अनपढ़ अनुयायियों की इस प्रकार की बातों से भ्रमित होकर पूजा, दर्शन आदि जो श्रमसाध्य कार्य थे, उन्हें छोड़ छोड़कर लौंका के अनुयायी बन गये।

इसमें लौंका और इनके अनुयायियों की बहादुरी नहीं, विध्वंसक पद्धति का ही यह प्रभाव है, मनुष्य को उठाकर उंचे ले जाना पुरुषार्थ का काम है, ऊपर खड़े पुरुष को धक्का देकर नीचे गिराना पुरुषार्थ नहीं कायरता है, जैनों में से ही पूजा आदिकी श्रद्धा हटाकर शाह लौंका, लवजी, रूपजी, धर्मसिंह आदि ने अपना बाडा बढाया, यह वस्तु प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती, इनकी प्रशंसा तो हम तब करते जब कि ये अपने त्याग और पुरुषार्थ से आकृष्ट करके जैनेतरों को जैनधर्म की तरफ खींचते और शिथिलाचार में

डूबने वाले, तत्कालीन यतियों को अपने आदर्श और प्रेरणा से शिथिलाचार से ऊंचा उठाने को बाध्य करते ।"

(पट्टावली पराग पृ. ४६७ से पृ. ४६९)

"द्रव्यपूजा-भावपूजा" की समीक्षा

इस प्रकरण में लेखक की चौर्यवृत्तिकी हद हुई है । उन्होंने पाठों को तोड-मरोड कर ऐसा उपसाया है, मानो निर्युक्तिकार ने सबके लिए द्रव्यपूजा को गौण किया है । परंतु लेखक ने दी हुई १९३ नं. की निर्युक्ति गाथा में स्पष्ट है कि संपूर्ण संयम प्रधान महाव्रतधारी मुनि के लिए ही द्रव्यस्तव विरुद्ध है । क्योंकि उसमें हिंसा होती है, जबकि मुनिको छःकाय जीवों की हिंसा का त्याग है । 'असारता ख्यापनाय आह-अनिउणमई वयणमिणं इत्यादि । श्लोक नं. १९२ की टीका के इस पाठ के साथ, श्लोक नं. १९४ में से "यः प्रकृत्यैव असुंदर स कथं श्रावकाणामपि युक्तः" इस पूर्वपक्ष के पाठ को जोडकर अर्थ का अनर्थ किया है । इसका अर्थ यह निकलता है (द्रव्यपूजा की) असारता बताने के लिए अनिपुणमति वाले का (द्रव्यस्तव भी अनेक अपेक्षाओं से बहुत गणकारी है) यह वचन है । जो प्रकृति से असुंदर है, वह श्रावकों को भी कैसे योग्य है ?

यह अर्थ निर्युक्तिकार भगवंत के कथन से बिल्कुल विरुद्ध है । निर्युक्तिकार ने १९३ नं. के श्लोक में स्पष्ट शब्दों में साधु के लिये ही द्रव्यस्तव निषिद्ध बताया है। जिसमें से उठाकर टीका का वाक्य इन्होंने जोडा वह १९४ नं. की गाथा एवं उसकी टीका इस प्रकार -

आह-यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्तत एव हेयो वर्तते ? आहोस्विदुपादेयोऽपि ? उच्यते, साधूनां हेय एव, श्रावकाणामुपादेयोऽपि, तथा चाह भाष्यकार -

अकसिणपवत्तगाणं विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणुकरणो दव्वथए कूवदिट्ठंतो ॥१९४॥ (भा०)

व्याख्या :- अकृत्स्नं प्रवर्तयतीति संयममिति सामर्थ्याद्गम्यते अकृत्स्नप्रवर्तकास्तेषां, 'विरताविरतानाम्' इति श्रावकाणाम् 'एष खलु युक्तः' एष - द्रव्यस्तवः खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव, किम्भूतोऽयमित्याह 'संसारप्रतनुकरणः' संसारक्षयकारक इत्यर्थः, द्रव्यस्तवः, आह-यः प्रकृत्यैवासुन्दरः स कथं श्रावकाणामपि युक्त इत्यत्र कृपदृष्टान्त इति, जहा णवाणयराइसन्निवेसे केइ पभूयजलाभावओ तण्हाइपरिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं च जइवि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्दमाईहि य मलिणिज्जन्ति तहावि तदुब्भवेणं चेव पाणिएणं तेसिं ते तण्हाइया सो य मलो पुव्वओ य फिट्टइ, सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो हवंति । एवं दव्वथए जइवि असंजमो तहावि तओ चेव सा परिणामसुद्धी हवइ जाए असंजमोवज्जियं अण्णं च णिरवसेसं खवेइत्ति । तम्हा विरयाविरएहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो, सुभाणुबंधी पभूयतरणिज्जराफलो यत्ति काऊमिति गाथार्थः ॥१९४॥

इसका भावार्थ - संयम में असंपूर्ण प्रवर्तक ऐसे श्रावकों को यह द्रव्यपूजा संसार का क्षय करनेवाली है । शंका करते है - जो प्रकृति से ही असुंदर है वह श्रावकों को भी युक्त कैसे ? उसके समाधान में कूप दृष्टांत समझना । वह इस प्रकार - नये बसे ग्रामादि में पानी की कमी होने से प्यास को बुझाने हेतु कितनेक लोग कुआँ खोदते हैं । उनकी तृष्णादि बढती है । - वे कीचडादि से मलिन होते है, तो भी कुएँ से निकले पानी से उनकी प्यास बुझती है । सदा ई के वक्त लगा मल और पूर्व का भी मल दूर होता है । हंमेशा के लिए वे और दुसरे भी लोग सुखी होते हैं । इसी प्रकार द्रव्यस्तव में असंयम होने पर भी उसीसे वह परिणाम शुद्धि होती है, जिससे असंयम से उपार्जित और उसके अलावा दुसरा भी कर्म निरवशेष नाश होता है । इसलिए श्रावकों को यह द्रव्यस्तव (द्रव्यपूजा) करना चाहिये ।

अभी पाठक स्वयं विचारें अंडरलाइन किये गये टीका के पाठ का अर्थ क्या है, और लेखक ने कैसा घोटाला किया है ! टीका के अधुरे पूर्वपक्ष के पाठ को उठाकर दुसरे स्थान में जोडकर कैसा अनर्थ किया है ?

आगे फिर ११०१ नं. की गाथा की टीका का पाठ उठा लाये और ऐसा आभास कराना चाहते है कि द्रव्यपूजा में विराधना होने से वह त्याज्य है और सामायिकादि प्रवृत्ति ही उपादेय है । परंतु उस गाथा की टीका से भी स्पष्ट अर्थ निकलता है कि, "जो तपसंयम में उद्यत है वह चैत्यादि (मंदिर-मूर्ति, कुल, गण, संघ, आचार्य, प्रवचन-श्रुत) संबंधी कृत्य का भी विराधक नहीं है (आराधक है) । अर्थात मंदिर-मूर्तिभी आराध्य हैं । आगे लेखक भी इसी का जो भावार्थ बताते है "अतः संवर सामायिकादि प्रवृत्तियों को छोडकर जो केवल पूजा करके, धर्म कर लिया ऐसे संतुष्ट अमरे बने रहते है, वे वास्तव में उक्त प्रमाण अनुसार अनिपुणमति अर्थात् मूढ बुद्धि है ।" इन लेखक कें शब्दों से भी पूजा आदि में धर्म है यह स्पष्ट होता है । उसके साथ सामायिकादि भी आवश्यक है । केवल द्रव्यपूजा से कृतकृत्य न बने, भावपूजा भी आवश्यक है ।

उपर बतायें टीका पाठ के फेरबदल से इनकी पुस्तिका के पृ. ३२ पर लिखें - "अतः किसी भी प्राचीन आगम या ग्रन्थ या व्याख्याओं को पढने में समझने में उक्त अंग्रेज के समान विवेक की आंखे तो खोल कर ही रखनी चाहिये । अंधे बने रहने में तो धूर्तो की धूर्ताई ही पल्ले पडनेवाली है । क्योंकि जिनका जैसा पड्या स्वभाव जासी जीव सूँ । साँच को कही आंच नही है । कोई न कोई मार्ग उपाय मिल ही जाता और झुठे को एक झूठ के लिये अनेक (सौ) झूठ करने पडते हैं । फिर भी दुर्भाग्य से बुरी तरह फसकर कभी पकडा भी जाता है" ये शब्द लेखक को बराबर लागु हो जाते है या नही पाठक स्वयं निर्णय करें ।

"मक्खन और द्विदल" की समीक्षा

इस प्रकरण की शुरुआत लेखकश्रीने हरिभद्रसूरि टीका का नाम लेकर की है, परंतु दिये पाठ में से प्रथम गाथा ही उस टीकामें है, आगे का पाठ उस टीका में है नहीं। इस प्रकार अंटसंट पाठ देने पर ऐसे व्यक्ति विश्वस्त कैसे बन सकते हैं ?

टीका में उद्धृत निर्युक्ति पाठ में स्पष्ट है कि "संसक्त और असंसक्त पात्र एक व्यक्ति साथ में नहीं रखें, अन्यथा संसक्त के गंध से असंसक्त भी बिगड़ जाएगा। और उसको साथ में रखकर भिक्षाभ्रमण न करें, विराधना होगी।" रसज संसक्त विषयक इस बात से स्पष्ट है कि शास्त्र में पानी-दही नवनीतादि में त्रस जीव संसक्त की ही बात नहीं, अपितु रसज संसक्त की, बात भी आती है। जब कि लेखक त्रससंसक्त के अनेक पाठ देकर रसज संसक्त की बात को ढांकने की कोशिश करते है।

रसज जीव, दही आदि में बताया हुआ काल पुरा होने से, वातावरण से या द्विदलादि मिश्रण से भी हो सकते है। उसका वहां पर स्पष्टीकरण किया नहीं है। ग्रंथकार उस विषय को छुए नहीं है वह उनकी मरजी। विचित्रा सूत्राणां गतिः।

रसज संसक्त दही आदि बताने से, द्विदल से संसक्त दही का ग्रहण भी हो ही जाता है। तथा बृहत्कल्पभाष्य में भी -

'पालंकलट्टसागा मुग्गकयं चामगोरसुम्मीसं।
संसज्जइ अ अचिरा तं पि नियमा दुदोसाय ॥६०॥'

इस पाठ के द्वारा कच्चे गोरस (दही आदि) में रसज संसक्ति ही बताई है। तथा 'रसजै संसक्तं तु कांजिकादि सपात्रं त्याज्यम्।' लेखकने दिये हुए इस पाठमें 'आदि' शब्द से दही आदि का भी ग्रहण हो जाता है। इसलिए लेखक ने 'आदि' शब्द का अर्थ ही नहीं किया है।

संसक्त निर्युक्ति एवं बृहत्वकल्पभाष्य में दही के रसज संसक्त होने की

बात बतायी होने से, यहां पर 'आदि' शब्द से दही आदि का ग्रहण करना उचित ही प्रतीत होता है ।

लेखकने सारार्थ (६) एवं निष्कर्ष (२) में 'रसज जीवोत्पति युक्त आहार' की बात लिख कर, कहीं पर भी द्विदल संबंधी कथन का नहीं होना लिखा है, वह वदतोव्याघात है, चूंकि खुदने बताये रसज जीवोत्पति युक्त आहार में द्विदल से संसक्त दही का भी ग्रहण हो जाता है । क्योंकि दही भी आहार गिना जाता है ।

पूर्वाचार्यों की परंपरा से द्विदल - दहीं संयोग में जीवोत्पत्ति मानी है । योनिप्राभृत ग्रंथ हाल में विच्छेद है, जिसमें द्रव्यों के मिश्रण से तत्काल जीवोत्पत्ति के अनेक प्रयोग थे । इसलिए इसमें सजीवता की सिद्धि कोई बाध नहीं है । लोंकाशाह की प्राचीन सामाचारी से भी यह वर्ज्य सिद्ध होता है । उसमें भी द्विदल में दोष बताया है, वह इस प्रकार - देखिए सुशीलकुमारजी लिखित "जैन धर्म का इतिहास" में पृ. २९९-३०० पर लोंकाशाह की सामाचारी में कलम (१७) 'जिस दिन गोरस लिया जाय उस दिन द्विदल का प्रयोग नहीं होना चाहिये ।' लेखक के पूर्वज श्री अमोलख ऋषिजी महाराज भी दही-द्विदल मिश्रण में जीवोत्पत्रि मानकर उसे अभक्ष्य मानते हैं । जिसका पाठ २२ अभक्ष्य-समीक्षा में पाठक देखें ।

रसज संसक्त दहीं आ जाये तो उसको परठने का विवेक भी पात्र सहित वगैरह, निर्युक्ति में बतायी हुई विधि के अनुसार समझना चाहिये ।

स्पष्टीकरण :

(I) त्रससंसक्त में त्रस जीव दो प्रकार के -

(१) तदुत्थ : मूल द्रव्य में पैदा हुए, जैसे गेहुँ, आटे वगैरह में धान्य कीटक वगैरह ।

(२) आगंतुक : बाहर से आयी चीटीं वगैरह ।

ये दोनों प्रकार के त्रस जीव मूल द्रव्य से विधिपूर्वक अलग किये जा सकते है ।

(II) रसज संसक्त में रसज यानि प्रवाही द्रव्य में उत्पन्न हुए अतिसूक्ष्म जीव जो पृथक् नहीं किए जा सकते हैं, अत: यहाँ पात्रसहित मूलद्रव्य को परठना बताया है।

श्वेतांबर में हेमचंद्रसूरिजी वगैरह अनेक पूर्वाचार्यों ने मक्खन को अभक्ष्य माना है। दिगंबर भी इसे अभक्ष्य मानते है। दिगंबराचार्य अमृतचन्द्रजी रचित 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रंथ (करीब ११०० वर्ष प्राचीन) में भी मक्खन में जीवोत्पत्ति मानकर उसे अभक्ष्य गिना है।'

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्यापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१९३॥

स्थानकवासी के महान आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी भी मक्खन को अभक्ष्य बताते हैं। देखें उन्हीं के शब्द - "छाछ से अलग होने के बाद थोडे ही समय में मक्खन में कृमि आदि जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। उसमें लीलन - फूलन भी आ जाती है। इसके अतिरिक्त मक्खन काम विकार उत्पन्न करने वाला होने से भी अभक्ष्य है।" (जैन तत्त्व प्रकाश - पृ. ४९७)

इस प्रकार पूर्वाचार्यो की प्राचीन परंपरा से उसमें जीवोत्पत्ति मानी जाती है। अत: मक्खन का निर्णय अतीन्द्रियज्ञानीगम्य है।

टेढे प्रश्नोंके सीधे - सचोट उत्तर

आगमादि के विषयमें पूछे गये प्रश्नों के उत्तर पाने के पहले इतना समझना आवश्यक है कि - पूर्वकाल में आगम कंठस्थ थे एवं शिष्यों को आचार्य सूत्र कंठस्थ कराने के साथ-साथ अर्थ की वाचना देते थे, वे उसमें से कुछ को धारण करते थे, कुछ को कंठस्थ करते थे, कुछ पदार्थ आचार्य श्री संग्रहणी गाथाओं के द्वारा संकलित करके देते थे एवं अर्थविश्लेषण अपनी शैली से करते थे।

कंठस्थ करने की परंपरा में सूत्र, निर्युक्ति, संग्रहणी आदि सभी को पृथक्-पृथक् रुप से अवधारण करके रखा जाता था।

धीरे-धीरे मेधा शक्ति, धारणा शक्ति कम होने लगी, काल विषम होने लगा, दुष्काल वगैरह पडे, श्रमणों की संघयण -सहनशीलता कम होने लगी, राजकीय परिस्थितियां विषम होने लगी, आंतर - बाह्य युद्ध वगैरह की विकट परिस्थितियां भी होने लगी । ऐसी परिस्थितिओं के कारण श्रमणों को संयमनिर्वाह हेतु मगध आदि क्षेत्र को छोडकर सुकाल वाले दूर-दूर के क्षेत्रों में विचरण करना पडा । दुर्लभ भिक्षा, विहारादि के कारण स्वाध्याय हानि होने से श्रुत का बहुत भाग विस्मृत प्रायः हो गया, उसे पुनः समय - समय पर संकलित किया गया । तब कई परंपरागत पाठान्तर आदि भी उपस्थित हुए, जिन्हें भी उचित रीति से संकलित किया गया ।

प्रथम वाचना - पाटलीपुत्र में भद्रबाहुस्वामी के समय में हुई ।

दुसरी वाचना - मथुरा में स्कंदिलाचार्य की निश्रा में ।

तीसरी वाचना - वल्लभीपुर में नागार्जुनाचार्य की निश्रा में ।

चौथी वाचना - वल्लभीपुर में देवर्धिगणिजी की निश्रा में ।

माथुरी एवं नागार्जुनीय दोनों वाचना की परंपरा को एक करने के प्रयास पूर्वक आगमों को पुस्तकारुढ किया गया ।

इसके अलावा खारवेल राजा के समय भी श्रुत उद्धार होने का उल्लेख मिलता है ।

आगमकी मान्यता के अनुसार एक-एक अक्षर लिखने पर प्रायश्चित आता है, परंतु लाभालाभ को देखकर देवर्धिगणिजी के समय से यह आगम लेखन शुरु हुआ । परंतु उस समय कागज दुर्लभ थे, अतः एकदम निकट-निकट लिखे जाते थे । निर्युक्ति, भाष्य, संग्रहणी आदि को पृथक्-पृथक् निर्देश करनेका प्रयास नहीं किया जाता था । वर्तमान की संपादन शैली में सुखबोध के लिए किये जानेवाले अल्पविराम पूर्णविराम आदि भी प्रायः नहीं रखे जाते थे । इस कारण कुछ भाष्य-गाथाएँ निर्युक्ति में मिश्रित हो गयी, संग्रहणी, निर्युक्ति गाथाएँ आदि मूलसूत्र में मिश्रित हो गयी । यह बात दशवैकालिक की अगस्त्यसिंहजी की चूर्णि के द्वारा पता चलती है । जिसे

चूर्णिकार निर्युक्ति गाथा कहते है, वह आज मूलसूत्र में पायी जाती है, कुछ जगह पर 'केति सुत्तं, केति वित्तिवयणमिमं भणंति' के द्वारा चूर्णिकार उसकाल में मूलसूत्र एवं व्याख्या साहित्य का संमिश्रण होना सूचित करते है । अगस्त्यसिंहजसूरिजी की चूर्णि में प्रदर्शित निर्युक्ति गाथाओं से कई अधिक गाथाएँ हारिभद्री टीका में मिलती है । जिसका स्पष्टीकरण लाडनु से प्रकाशित "दसवेयालियं" की प्रस्तावना में भी दिया है । अर्थात् सूत्रों में कुछ वृद्धि या अर्वाचीन बात देखी जावें तो वह उसके अभिन्न अंग समान व्याख्या साहित्य के कुछ अंश के जुडने से हुई है, अतः आगमों में मनस्वी, प्रक्षेप की शंका उचित नहीं है ।

दुसरी बात मूल सूत्रों में क्वचित् परस्पर विसंवाद दिखने पर, अपेक्षा भेद या मतांतर कहकर उसका समाधान किया जाता है तथा स्थानांग सूत्र औपपातिक सूत्र, आदि मूलसूत्रों में गोदास आदि नौ गण तथा निह्नव आदि परवर्ती घटनाओं के उल्लेखों के मिलने मात्र से आगमों की प्रामाणिकता में संदेह भी नहीं किया जाता है । वहाँ पर समस्त श्वेतांबर परंपरा को आगमों को पुस्तकारुढ करने वाले आचार्यों की प्रामाणिकता, भवभीरुता पर विश्वास के बल से लेखन काल तक हुई घटनाओं के उल्लेख किये जाने पर भी आगमों में संदेह नहीं होता है, क्योंकि जगह-जगह पर टीकाकारों ने इस विषय में प्रश्न उठाकर सूत्रोंका त्रिकाल गोचर होना वगैरह समाधान भी किये है तथा अभी बतायी रीति से व्याख्या साहित्य के कुछ अंशो का सूत्र से संमिश्रण या संकलनकार द्वारा उचित जानकर तत्काल तक हुई घटनाओं का अशठ रुप से उल्लेख करना वगैरह समाधान भी किये जा सकते है ।

देवेन्द्रमुनि शास्त्रीजी ने भी कहा है - "उत्तर में निवेदन है; जैन दृष्टि से भगवान महावीर सर्वज्ञ थे, अतः वे पश्चात् होने वाली घटनाओं की सूचना करें इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । जैसे - नवम् स्थानमें आगामी - उत्सर्पिणी काल के भावी तीर्थंकर महापद्म का चरित्र दिया गया है । और भी अनेक स्थलों पर भविष्य में होनेवाली घटनाओं का उल्लेख है ।

दूसरी बात यह है कि पहले आगम श्रुति - परम्परा से चले आ रहे थे, उन पाठों का संकलन और आकलन आचार्य स्कन्दिल और देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय लिपिबद्ध किया गया था । उस समय वे घटनाएँ, जिनका उल्लेख प्रस्तुत आगम में है, वे भविष्य में होनेवाली घटनाएँ भूतकाल में हो चुकी थी । अत: जन-मन में भ्रान्ति उत्पन्न न हो जाय इस दृष्टि से आचार्यों ने भविष्यकाल के स्थान पर भूतकाल की क्रिया दी हो या उन आचार्यों ने उस समय तक की घटित घटनाएँ इसमें संकलित कर दी हों । इस प्रकार की दो - चार घटनाएँ भूतकाल की क्रिया में लिख देने मात्र से प्रस्तुत आगम गणधरकृत नहीं है, ऐसा कथन उचित प्रतीत नहीं होता ।"

(जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ. ९८)

अत: ओगमों में सबका विश्वास एकदम उचित ही है । ठीक उसी तरह उक्त लेखक को पर्युषणा कल्प, निर्युक्ति आदि साहित्य के विषय में भी स्वत: समाधान मिल सकते है, जरुरत है केवल पूर्वग्रहों से मुक्त तटस्थ सत्यान्वेषण की भावना की ।

पुछे गये प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न १-का उत्तर :- पज्जोसवणा कल्पसूत्र का अलग अस्तित्व कब हुआ ? यह प्रश्न ही सूचित करता है कि आप भी कल्पसूत्र को दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा के रुप में स्वीकार करते है,आपका विवाद केवल उसके पृथक् अस्तित्व को लेकर है, जो कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है ।

आपश्रीने जो उसके अलग अस्तित्व प्रतिपादक प्रमाण विषय में पुछा था, उसका समाधान यह है (१) समवायांग मूल-सूत्र स्वयं "कप्पस्स समोसरणं नेयं" के द्वारा कल्पसूत्र का सूचन करता है एवं टीका में इसका स्पष्टीकरण भी किया गया है ।

(२) दुसरी बात यह कि जिन ग्रन्थों में पर्युषण कल्प का उल्लेख है, उसका सूचन आपके प्रश्न नं. ९ से ही मिल जाता है, वे सूचित ग्रन्थ इस प्रकार है :-

(अ) निशीथ सूत्र दशम उद्देशक (ब) निशीथ भाष्य ३२१८ और (क) उसकी चूर्णि जिसमें 'पज्जोसवणाकप्प' का स्पष्ट पाठ है ।

(३) तथा समस्त श्वेतांबर पंथ में मान्य दशाश्रुतस्कन्ध के मूलपाठों में भी ८वें अध्ययन की शरुआत 'तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे होत्था...' से करके 'जाव भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ त्ति बेमि' के द्वारा 'अथ से इति ही पुरे आठवें अध्ययन के सूत्रों का अतिदेश किया है,अन्यत्र प्रसिद्ध वस्तु का ही अतिदेश किया जाता है । अत: 'जाव' शब्द के द्वारा आठवें अध्ययन के सूत्रों के लिए किया गया अतिदेश ही बताता है कि देवर्धिगणि के पहले ही यह आठवां अध्ययन ही पर्युषणा कल्पसूत्र के रुप से अलग अस्तित्व एवं प्रसिद्धि को धारण करता था, जिसके सूत्रों का यहां निर्देश किया गया है, अन्यथा आप 'जाव' शब्द से कौन से सूत्र को ग्रहण करेंगे ?

प्रश्न-२ का उत्तर :- प्रतिष्ठित इतिहास विशेषज्ञ, आगम प्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी म.सा. (बृहत्कल्प के आमुख में), दलसुख मालवणियां (निशीथ की प्रस्तावना) एवं डॉ. सागरमल जैन (दशाश्रुतस्कन्ध एक अध्ययन) वगैरह तटस्थ, प्रकांड इतिहासवेत्ताओं ने एक आवाज से कहा है कि निर्युक्तियाँ आगम के पुस्तकारुढ होने के बहुत पूर्व रची जा चुकी थी । कहीं-कहीं स्थलों पर भाष्य आदि की गाथाएँ, निर्युक्ति में मिश्रित हो गयी है, जिन्हें स्वयं टीकाकारादि भी पृथक् करने में संदिग्ध थे । ऐसी परिस्थितिओं में अगर निर्युक्ति में नंदीसूत्र का उल्लेख आ गया हो, उतने मात्र से पूरा निर्युक्ति साहित्य पू. देवर्धिगणिजी (नंदीसूत्र) के बाद रचा गया,यह कहना अनुचित है।

स्थानकवासी समाज के सुप्रतिष्ठित मनीषी श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्रीजी ने भी कहा है कि - "यह सत्य है कि वीर निर्वाण की आठवीं - नौंवी सदी के पूर्व इनकी रचना हो चुकी थी । (जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पेज ४३६)

निर्युक्तियों की रचना करके भद्रबाहु ने जैन साहित्य की जो सेवा की वह सदा अमर रहेगी । (वही पृ. ४५५)

जैसे १२-१२ वर्षीय भीष्म दुष्कालों के बाद श्रुत संकलना के लिए हुई वाचनाओं में जितना श्रुतज्ञान तत्कालीन आचार्यों के पास था, उसे संकलित करके आगमों को सुरुप प्रदान किया गया था, उसमें तत्काल तक हुइ घटनाओं को भी शायद संकलित किया गया हो, इसलिए श्री स्थानांग सूत्र, श्री औपपातिक सूत्र आदि मूलसूत्रों में ७ निह्नवों आदि का उल्लेख पाया जाता है।

इतने मात्र से 'पुरे स्थानांग सूत्र आदि आगमों को अर्वाचीन मानना' क्या श्वेतांबर परंपरा के किसी भी पंथ को मान्य है ? कदापि नहीं, अत: जैसे वहाँ पर समाधान किया जाता है, वैसे प्रभु वीर से चली आ रही आचार्य परंपरा के सपूतों (?) को पूर्वाचार्यों की परंपरा से चली आ रही निर्युक्ति के श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामीकृत होने की मान्यता के विषय में समाधान अवश्य प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न-३ का उत्तर :- कल्पसूत्र के आदि में नमस्कार मंत्र के विषय में पाठ भेदवाली प्रतें व्याख्याकारों के सामने होगी, अत: व्याख्याभेद प्राप्त होते है। एवं 'नवकार मंत्र' लिपिकर्ता द्वारा किया हुआ मंगल भी हो सकता हो, जो मूलसूत्र के साथ, कालक्रम से अनाभोगादि के कारण जुड गया होगा, इतने मात्र से उसे 'प्रक्षेप' कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रक्षेप में मूलग्रन्थ में कुछ बढाने की इच्छा होती है।

प्रश्न-४ का उत्तर :- आपने पुछा कि कल्पसूत्र में उस सूत्र व उस अध्ययन के नाम का मुख्य विषय सबसे अंत में है, प्रारंभ में करीब १००० श्लोक प्रमाण वर्णन अन्य है, जबकि निर्युक्ति में प्रारंभ से ही मुख्य विषय की व्याख्या है और १००० श्लोक जितने मूल पाठ के लिये केवल एक ६२ वी गाथा में संकेत मात्र है, ऐसा क्यों ? इस में भी कुछ रहस्य हो सकता है क्या?

अब यहाँ विचार करना है कि, निर्युक्ति के प्रारंभ में मुख्य विषय की बात बतायी है और १००० श्लोक के वर्णन विभाग को एक ६२ वी गाथा से सूचित किया है यह कहाँ तक सत्य है क्योंकि ८वें अध्ययन की निर्युक्ति में पहले पज्जोसवणा शब्द के एकार्थिक शब्द बताकर उनमें से 'ठवणा' शब्द के

निक्षेप किये । फिर गाथा ३ से ६१ तक उसकी विशद विवेचना की जिसमें प्रसंगोपात पर्युषणा की बातें भी आ गयी, परंतु मूलसूत्र की विवेचना इन ६१ श्लोकों में नहीं की गयी है ।

इस प्रकार ८वीं दशा की भूमिका में ६१ श्लोक हो जाने के बाद ६२ वें श्लोक में वर्णन विभाग का सूचन किया एवं आगे ५ गाथा में मूल पर्युषणाकल्प के मुख्य विषय के कुछ अंशों की विवेचना की है ।

निर्युक्ति में मुख्य विषय की विवेचना पहले की गयी है और वर्णन विभाग की विवेचना बाद में की है, अतः वह प्रक्षिप्त है इत्यादि प्रक्षेप की कल्पना की बातें, उपरोक्त रीति से सूक्ष्म अवलोकन करने पर असत्य सिद्ध हो जाती है ।

तथा १००० श्लोक प्रमाण वर्णन विभाग का एक श्लोक से संकेत करने के पीछे रहस्य यह है कि वर्णन विभाग सुगम होने से उसका विस्तार नहीं किया गया है । इसी तरह निर्युक्ति में हर जगह लाघव दिखाई देता है, टीकाकार उसका यथोचित विश्लेषण करते है । इसीलिए भूमिका के ६१ श्लोक में प्रासंगिक रुप से पर्युषणा विषयक विशद विवेचन हो जाने से निर्युक्ति में केवल ५ श्लोक में ही वर्णन किया है ।

प्रश्न-५, ६, ७, का उत्तर - तीनों प्रश्नों में कल्पसूत्र में भद्रबाहुस्वामी के बाद के आचार्यो को नमस्कार ९८० व ९८३ के उल्लेखोंको लेकर प्रक्षिप्त कर बढाने वगैरह की ही बातें लिखी है । एक विषयक होने से उन सबका जवाब साथ में ही दिया जाता है ।

निशीथ भाष्य एवं चूर्णि से स्पष्ट होता है कि पूर्वकाल में, पांच रात्रि में, पर्युषण कल्प का वांचन चातुर्मासकी स्थापना पहले किया जाता था, जिसमें वर्षाकाल संबंधी उत्सर्ग-अपवादों का सामान्य से निरूपण किया जाता था । इन आचारों के वर्णन के पूर्व चातुर्मास में विशिष्ट आराधना की प्रेरणा हेतु तथा अपनी गौरववंती गुरुपरंपरा के इतिहास को जीवंत रखने हेतु २४ तीर्थंकर, उनके परिवार, गणधर भगवंत तथा स्थविरों के चरित्र पढे जाते थे ।

'पुरिमचरिमाण कप्पो मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि
इअ परिकहिया जिण गणहराइ थेरावली चरित्तं ।'
(निशीथ भाष्य एवं दशाश्रुतस्कंन्ध निर्युक्ति)

संभव है कि जब भद्रबाहुस्वामी ने दशाश्रुतस्कन्ध की रचना की, तब ८वें अध्ययन के रुप में पर्युषणा कल्प की रचना की एवं उसमें चातुर्मासिक कल्प की मर्यादानुसार स्थविरावली के वर्णन विभाग में अपने समय तक के आचार्यों का वर्णन किया, बाद में यह ग्रन्थ मौखिक परंपरा से आगे चलता रहा एवं प्रत्येक वाचना के समय में स्थविरावली को क्रमशः आगे बढाकर सुव्यवस्थित किया जाता रहा । देवर्धिगणि के समय में यह ग्रन्थ पुस्तकारुढ कर दिया गया तथा स्थविरावली को तत्काल तक संकलित किया गया एवं उसके बाद में स्थविरावली विभाग वहाँ तक ही पढा जाने लगा । मौखिक परंपरा में स्थविरावली आगे आगे बढती थी, पुस्तकारुढ होने के बाद वह वहाँ पर ही स्थागित हो गयी । पुस्तकारुढ करते समय माथुरी अनुयायी एवं नागार्जुनीय अनुयायिओं में वीर निर्वाण संवत् में मतभेद था । अतः दोनों मतों को ९८० और ९९३ के रुप में लिख दिया गया । (विशेष विस्तार के लिए देखिए पं. कल्याणविजयजी की पट्टावली पराग पुस्तक) ।

इन सभी बातों में कही पर मूलग्रन्थ में प्रक्षेप की गंध नहीं आतीं है । परंतु 'इअ परिकहिआ जिण गणहराइ थेरावली चरित्तं' के द्वारा निर्युक्तिकार ने जो स्थविरावली वर्णन करने के लिए सूचन किया है, उसका पालन करना ही समझा जाता है, जो ग्रन्थकार के आशय के अनुकूल ही हैं और उक्त के विस्तार रुप चूलिका के रुप में भी इन संवर्धनों को गिना जा सकता है ।

जैसे अन्य स्थविर कृत अध्ययन भी द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चूला रुप से, आचारांग सूत्र से अभिन्न रुप से स्वीकृत किये गये है, उसी तरह पूरा कल्पसूत्र अखण्ड माना जाता है ।

प्रश्न-८ का उत्तर :- 'एतत् न स्वबुद्धया प्रोच्यते किन्तु भगवदुपदेशपारतन्त्र्येण इत्याह....' (कल्प सुबोधिका टीका)

किं स्वेच्छया भणति नेत्युच्यते तं निद्देसो कीरति पुणो ।'

(दशाश्रुतस्कन्ध ८वे अध्ययनकी चूर्णि)

इसके द्वारा व्याख्याकारों ने स्पष्ट निर्देश किया है कि यह कल्पसूत्र, ग्रन्थकार भद्रबाहुस्वामी अपने मन से नहीं बता रहे परंतु इसे भगवान ने भी अर्थ 'पज्जोसवणाकप्पोत्ति वरिसस्तमज्झाता' यानि चातुर्मासिक मर्यादा के नियम वाले इस अध्ययन को अर्थ से बताया था । जरुरी नहीं है कि शब्दशः वर्तमान का सूत्र भगवान के मुख से वैसे ही निकला हो, परंतु अर्थ के उपदेशक तीर्थंकर है । अतः अर्थसे यह सूत्र आ जाता है एवं स्थविरावली भी 'इअ परिकहिया' के निर्देशानुसार आगे बढने से यह ग्रन्थ लगभग १२०० सूत्र का बना इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं दिखती है ।

प्रश्न-९ का उत्तर :- कल्पसूत्र में केवल तीर्थंकरों के चरित्र ही नहीं परंतु साधुभगवंतो के आपवादिक आचारों का भी निरुपण है, अतः उसमें गोपनीय बातें भी आने से तथा मूलतः कल्पसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध रुप छेदग्रन्थ का विभाग रुप होने से गृहस्थों को सुनाने में प्रायच्छित बताया है ।

प्रश्न-१० का उत्तर :- कल्पसूत्र को मूर्तिपूजक समाज कालिकसूत्र में ही मानता हैं और कालिक सूत्रों के लिए निर्दिष्ट विधि के अनुसार वर्तमान में भी कालग्रहण पूर्वक उसके योगोद्वहन भी किये जाते है, अतः कालिकसूत्र को उत्कालिक सूत्र कर देने का आक्षेप देने में प्रश्नकार की अनभिज्ञता और जल्दबाजी प्रकट होती है । वर्तमान में गृहस्थों के आगे, दिनमें कल्पसूत्र को, निशीथी भाष्य गाथा ३२२० एवं उसकी चूर्णि के द्वारा निर्दिष्ट अपवाद मार्ग से पढा जाता है ।

'जीवित मक्खी जानकर निगल जाना' ये शब्द तो लेखक की मानसिकता को सूचित करते है । व्यवहार सूत्र में आगमों को नियत पर्याय वालें श्रमणों को ही पढाने की स्पष्ट आज्ञा होने पर भी उन्हें सानुवाद छापकर गृहस्थों को पढाने की प्रवृत्ति करने पर क्या येशब्द लेखक को ही लागु नहीं पडते ?

प्रश्न-११ का उत्तर :- निशीथ सूत्र में अपर्युषणा में पर्युषणा का जो

निषेध है, वह अपर्व में (५, १० पुनम, अमावस्या सिवाय में) पर्युषणा करने का निषेध है, ऐसा उसकी चूर्णि से स्पष्ट होता है तथा कल्पसूत्र में भादरवा सुद ५ के बाद पर्युषणा का निषेध तथा उसके पहले के पर्वों में अनुज्ञा दी है, जो निशीथ सूत्र से अविरुद्ध ही है ।

जो लोग शास्त्र में पर्युषणा (संवत्सरी) को भादरवा सुद ५ की नियत होना मानते है, उनके लिए यह समाधान है कि - पहली बात तो कल्पसूत्र के कर्ता भद्रबाहुस्वामी है, जबकि निशीथसूत्र के कर्ता निशीथ ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार 'विशाखाचार्य' है, अतः दोनों ग्रन्थों के कर्ता भिन्न है । अतः लेखक के द्वारा एक ही व्यक्ति द्वारा पूर्वापर विरुद्ध बातों का निरुपण करने की आशंका उठानी उचित नहीं है ।

दुसरी बात उत्सर्ग - अपवादमय जिनाशासनमें किसी ग्रन्थ में कोई बात उत्सर्ग से कही गयी हो, उसी बात का आपवादिक विधान अन्य ग्रंथ में हो सकता है ! योग्यता एवं गुरुगम के बिना सूत्रों के रहस्य नहीं मिल सकते है ! कोई उत्सर्ग सूत्र होता है, कोई अपवाद सूत्र होता है ।

इसलिए निशीथ सूत्र एवं कल्पसूत्र में कोई विरोध नहीं है ।

प्रश्न-१२ का उत्तर :- कल्पसूत्र में ग्रन्थकार द्वारा 'वयं' शब्द का प्रयोग होना व्याकरण से सिद्ध है । अतः उसमें कुशंकाओं की गुंजाईश नहीं रहती है । निर्युक्तिकार सूत्र के हर शब्द की व्याख्या करे, ऐसा आग्रह रखना भी अनुचित है, अतः ठोस प्रमाण के बिना, सूत्रों में प्रक्षेप - प्रक्षेप की बाते करना केवल अरण्यरुदन जैसा होता है ! विद्वद्वर्ग उसे प्रमाणित नहीं करता है । इसका विशेष खुलासा पीछे "नमुत्थुणं पाठ के प्रक्षेप" की समीक्षा प्रकरण में दिया जा चुका है ।

प्रश्न-१३ का उत्तर :- लेखक महाशय ! आपने नंदी सूत्र निर्दिष्ट ७२ आगमों में से ४५ आगमों को ही मानने का कारण पुछा, उसके जवाब के पहले तो बडा प्रश्न यह उठता है कि आप ३२ आगम ही क्यों मानते हो और २० प्रकीर्णक में से एक भी प्रकीर्णक क्यों नही मानते हो ?

अस्तु, हमारा जवाब तो स्पष्ट है कि ४५ आगम की संख्या की धारणा पूर्वाचार्यों की विवक्षा विशेष है । हम ४५ आगम सिवाय के आगमों की भी वैसी ही प्रमाणिकता स्वीकारते है । प्रश्न तो आपकी ३२ आगम की धारणा पर होता है क्योंकि आप अन्य आगमों की प्रामाणिकता ही नहीं स्वीकारते है ।

प्रश्न-१४ का उत्तर :- हरिभद्रसूरि आदि पूर्वाचार्यों की आगमादि की टीका वगैरह तो आगम रुप ही मानी जाती है, उनकी अन्य स्वतंत्र कृतियां भी उनके सपूत - मंदिरमार्गी समाज में प्रमाण रुप में अत्यंत प्रतिष्ठा को धारण करती है । ग्रन्थ का प्रमाण रुप होना अलग बात है और आगम कोटि में माना जाना अलग बात है । जैसे आपके गुरुओं की धारणाओं को आप प्रमाण रुप में मानते हो, परंतु उनके ग्रन्थों को आप आगम नहीं मानते हो ।

प्रश्न-१५ का उत्तर :- सूर्यप्रज्ञप्ति में मांसविषयक पाठ प्रक्षिप्त है, ऐसा बिना आधार से बेधडक प्ररुपित करना क्या 'जं अट्ठं तु न जाणेज्जा एवं एअंति नो वए ।' इस दशवैकालिक सूत्र की आज्ञा का भंग करना नहीं कहलाता है ? तथा किसी भी पंथ में ऐसा कोई प्रयोजन भी इससे सिद्ध नहीं होता है, जिसके लिए यहाँ प्रक्षेप की आशंका भी उठाई जा सके । अत: मांस विषयक सूत्र में भी वस्तुस्थिति का प्रतिपादन ही अभिप्रेत लगता है । दुसरी बात 'मानव भोज्य मीमांसा' में प्रकांड इतिहासवेत्ता पं. कल्याणविजयजी ने आगमों में आते मांस विषयक सूत्रों का वनस्पति वाचक होना निघण्टु आदि शास्त्रों के आधार से सिद्ध किया है । अत: उन सूत्रों को प्रक्षिप्त कहना अनुचित ही है ।

प्रश्न-१६ का उत्तर :- आचारांग को आगम क्यों माना जाता है ? ऐसे प्रश्न तो ३२ आगमों में इन आगमों की गिनती करने वाले स्थानकवासी समाज को भी लगता है । इसी तरह के प्रश्न करके लेखक अपने आपको प्रच्छन्न दिगंबर या स्वच्छन्द मतिवाले, इतिहासज्ञ (अज्ञ ?) के रुप में सिद्ध कर रहे है ?

अस्तु यह तो प्रासंगिक कथन मात्र था। आचारांग का ८वां अध्ययन नहीं मिलने पर उसे अप्रमाण मानने की कोई बात नहीं आती है। किसी व्यक्ति का कोई अंग कट जाता है, तो क्या वह आदमी अपना व्यक्तित्व खो बैठता है ? गणधररचित सूत्रों के कई अंश विच्छिन्न होने पर क्या उपलब्ध ११ अंग अप्रमाण बन जायेंगे ?

प्रश्न-१७ का उत्तर :- प्रश्नव्याकरण को आगम क्यों माना जाता है ? उसका जवाब यह है कि काल की विषमता एवं जीवों की अयोग्यता को देखते हुए, किसी समर्थ आचार्य ने प्रश्न व्याकरण में से प्रश्नविद्या अदि गंभीर विषयों का संहरण करके काल के अनुरूप अन्य अविरुद्ध बातों को ही बताया नंदीसूत्र में उसके विषय निर्देश के अन्तमें 'ऐसा प्रश्नव्याकरण की टीका में अभयदेवसूरिजीने खुलासा किया है। 'चरण करण परुवणा आघविज्जंइ' के द्वारा, वर्तमान में उपलब्ध, आश्रव-संवर वर्णन का सूचन भी मिलता ही है। इस प्रकार प्राचीन परपंरा से चले आ रहे इस 'प्रश्न व्याकरण' आगम के लिए समस्त श्वेतांबर परंपरा एकमत ही है।

प्रश्न-१८ का उत्तर :- ४५ आगमों के रचनाकार एवं उनकी रचना के समय के इतिहास संशोधन करने निकले हमारे लेखक को क्या ३२ आगमों का इतिहास उपलब्ध है ?

(१) अगर नहीं है, तो आप उन्हें क्यों मानते है ?

(२) और अगर आप ३२ आगमों को भी नहीं मानते हो, (१६, १७ वें प्रश्न से ऐसा स्पष्ट समझ में आता है) तो आप स्वयं ही स्थानकवासी समाज के भी गद्दार रुप में सिद्ध हो गये हो।

प्रश्न-१९ का उत्तर :- बृहत्संग्रहणी की आगम परिभाषा वाली गाथा हमें मान्य है। ऐसा होते हुए भी ४५ आगम को मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि -

(१) ११ अंग तो गणधर रचित होने से सर्वमान्य है।

(२) १२ उपांग भी स्थविर (१४ पूर्वधर आदि विशिष्ट ज्ञानी) द्वारा रचित होने से आगम मे सम्मिलित है।

(३) १० प्रकीर्णक भी नंदीसूत्र निर्दिष्ट प्रत्येक बुद्ध आदि रचित प्रकीर्णक होने से माने जाते है ।

(४) नंदीसूत्र देववाचक (देवर्धिगणि) के द्वारा रचित होने पर भी सर्वमान्य है । अनुयोगद्वार आयरक्षितसूरिजी रचित है, जो साढे नौ पूर्वधर होने पर भी सर्वत्र मान्य है ।

(५) दशवैकालिक सूत्र - १४ पूर्वी शय्यंभवसूरिजी रचित है, उत्तराध्ययन सूत्र तीर्थंकर, प्रत्येक बुद्ध आदि की वाणी है ।

ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति अथवा आवश्यक निर्युक्तियाँ १४ पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी की होने से मान्य है ।

(६) निशिथ सूत्र १४ पूर्वधर कालीन विशिष्ट श्रुतधर विशाखाचार्य कृत है।

- दशा-कल्प-व्यवहार सूत्र भद्रबाहुस्वामीजी कृत है ।

महानिशीथ सूत्र युगप्रधान हरिभद्रसूरिजी द्वारा प्राचीन प्रतीं में से उद्धृत किया गया था एवं उसका नंदीसूत्र आदि में निर्देश भी मिलता है तथा जिनशासन के ज्योतिर्धर युगप्रधान मध्यस्थ शिरोमणि हरिभद्रसूरिजी ने उपधान पंचाशक में महानिशीथ सूत्र की प्रामाणिकता भी सिद्ध की है ।

जीतकल्प : संघयण आदि क्षीण होने पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार संयम मर्यादा का सुचारु रुप से पालन होवें एवं उचित आलोचना - प्रायश्चित के द्वारा शुद्धि हो सके, इस हेतु निशीथ आदि के आधार से परम गीतार्थ ऐसे बृहत्संग्रहणीकार (जिसकी गाथा के आधार पर आगम की निर्धारणा आपने की है) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के द्वारा यह जीतकल्प रचा गया है । अत आलोचना - प्रायश्चित आदि प्रतिपादक इस ग्रन्थ को आगम मानने में कोई हर्ज महसूस नहीं होता है ।

इस तरह भवभीरु संविग्न गीतार्थ गुरु - भगवतों की सुविशुद्ध परंपरा से आयी हुई ४५ आगम की इस मान्यता में किसी कुशंका को अवकाश नहीं रहता है ।

प्रश्न-२० का उत्तर :- प्रश्न (१७) और (२०) दोनों एक ही प्रश्न है ।

प्रश्न-२१ का उत्तर :- प्रश्न (१६) और (२१ दोनों एक ही प्रश्न हैं, परंतु धूर्तता से प्रश्नों की संख्या बढाने की चेष्टा लेखक ने की है, ऐसा लगता है।

प्रश्न-२२ का उत्तर :- इसका जवाब प्रश्न ५,६,७ के दिये हुए जवाब एवं पीछे प्रकरणों में कल्पसूत्र की प्रामाणिक्रता की सिद्धि के प्रस्ताव में आ जाता है, वहाँ से समझ लेना चाहिए । एक ही प्रश्न बार-बार, घुमा फिराकर पुंछना, लेखक की निर्बलता को सूचित करता है ।

प्रश्न-२३ का उत्तर :- इस प्रश्न का खुलासा प्रश्न (१४) एवं (१९) के महानिशीथ सूत्र की सिद्धि के प्रस्ताव में दिया जा चुका है । इसी प्रश्न में लेखक जिन्हें शुद्ध प्ररूपक मान रहे है ऐसे भवभीरु, एकावतारी सूरिपुरंदर हरिभद्रसूरिजी ने ही महानिशीथ सूत्र की सिद्धि उपधान पंचाशक में की है ।

प्रश्न-२४ का उत्तर :- लिपिकाल में भूल हुई है, ऐसा ठोस प्रमाणों से सिद्ध किये बिना, यह पाठ सही है, यह गलत है, ऐसा मानना अपनी फुटपट्टी जैसी बुद्धि से समुद्र के विस्तार को नापने जैसा है ।

लेखक की तरह ही, स्वच्छन्दमति धारक स्थानकवासी संत मंत्री श्री फुलचंदजी (पुप्फभिक्खु) ने मनस्वी रीति से 'सुत्तागमे' में आगमों के पाठों को फेरबदल करने की चेष्टा की थी, जिसे स्थानकवासी श्रमणसंघ की कार्यवाहक समिति ने भी अप्रमाणित घोषित किया था । स्थानकवासी समाज द्वारा अप्रमाणित घोषित की हुई उसी चेष्टा को पुनः प्रामाणिकता की छाप लगाने की मानसिकता को धारण करते हुए लेखक क्या भगवान के शासन एवं शास्त्रों के साथ-साथ स्थानकवासी समाज के भी गद्दार तो नहीं बन गये हैं ?

दुसरी बात काल के कारण नष्ट हो रहे श्रुत को यथावत् संरक्षित रखने का आचार्यों की परंपरा ने अथाग प्रयास किया है, अतः जगह-जगह पर पाठान्तरों के निर्देश, पूर्व की प्राचीन टीका आदि के उल्लेख वगैरह प्रामाणिक रूप से किये गये भी है । स्वयं महाविद्वान टीकाकार भी मूलपाठ का लेखक

की तरह निडर रूप से अपनी बुद्धि से निर्णय नहीं देते हैं क्योंकि खुद की छद्मस्थता का उन्हें स्पष्ट ख्याल था। अंत मे वे 'तत्त्वं केवलीगम्यं' कह देते थे, परंतु लेखक की तरह बिना प्रमाण से पाठ को बदल करने का दुस्साहस नही करते थे। इसके अनेक उदाहरण आगम की टीकाओं में मिलते हैं, केवल ग्रन्थ गौरव के भय से नहीं दिये जाते है।

प्रश्न-२५ का उत्तर :- भगवती सूत्र के अंतमें मंगल प्रशस्ति लिपिकर्ता की है इसलिए अभयदेवसूरिजी ने व्याख्या नहीं की, ऐसा नहीं है, परंतु वह प्रशस्ति स्पष्टार्थ है इसलिए व्याख्या नहीं की है। उन्होंने कहा है कि -

'णमो गोयमाइणं गणहराणमित्यादय: पुस्तकलेखककृता नमस्कारा: प्रकटार्थाश्चेति न व्याख्याता: ॥'

यानि कि - णमो गोयमाइणं वगैरह नमस्कार पुस्तक के लेखक द्वारा किये गये है और वे स्पष्ट अर्थ वाले है, अत: उनकी व्याख्या नहीं की गयी है।"

मंदिरमार्गी समाज द्वारा प्राय: आगमों का सटीक ही संपादन किया जाता है, अत: वे गाथाएँ टीका की स्पष्टीकरण वाले पाठ के साथ ही छापी जाती है। अत: मूल के पाठ के साथ उन्हें जोडने की बात नहीं आती है।

केवल मूलसूत्र वाले आगमों का संपादन, तो मुख्यरुप से स्थानकवासी एवं तेरापंथीसमाज की ओर से प्रकाशित होता है, अत: लेखक के द्वारा यह आक्षेप घुम-फिर कर स्थानकवासी समाज पर ही है, जो वास्तव में उचित भी नहीं है। इसमें न तो स्थानकवासी समाज या तेरापंथ समाज की गलती है, क्योंकि वे तो मूलसूत्र की उपलब्ध प्रतीमें जैसा पाठ है, उसे छाप रहे है ? उपलब्ध प्रती के पाठों की कांट-छांट करना प्रामाणिक संपादन के लिए उचित नहीं है, अत: दोनों समाज भी अगर उन पाठों को छापते हैं, तो वह वफादारी ही है, फिर भी अगर लेखक ऐसे संपादक को गलत कहते है तो इसे लेखक की स्वच्छन्दमति का विलास ही कहना चाहिए, जो अपने संप्रदाय पर भी कीचड उछालने से नहीं अटकते हैं।

प्रश्न-२६ का उत्तर :- "चेइयरुक्खे त्ति बद्धपीठा वृक्षा येषामध: केवलान्युत्पन्नानि" समवायांग सूत्र १५७ टीका (प्रकीर्णक समवाय)

'चैत्यवृक्षा मणिपीठिकानामुपरिवर्तिनः सर्वरत्नमया उपरिच्छत्रध्वजादिभिरलङ्कृताः सुधर्मादिसभानामग्रतो ये श्रूयन्ते ते एव इति सम्भाव्यत' - स्थानांग सूत्र अध्ययन ८ सूत्र ६५४ टीका

अश्वत्थादयश्चैत्यवृक्षा ये सिद्धायतनादि द्वारेषु श्रूयन्त इति। - स्थानांग १० स्थान्, सूत्र ७३६

अधोबद्धपीठिके उपरि चोच्छ्रितपताके वृक्षे' - उत्तराध्ययनसूत्र - अध्ययन-९ श्लोक १० की शांतिसूरि-टीका

चितिरिहेष्टकादिचयः तत्र साधुः - योग्यश्चित्यः प्राग्वत्, स एव चैत्यस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ?

इन सब टीका ग्रन्थ आदि से "चैत्यवृक्ष" का बांधी हुई पीठिकावाले वृक्ष अर्थात् जिन वृक्षों के आस-पास इटें या मणि आदि से बांध काम किया गया हो, ऐसा अर्थ होता है।

तथा प्रकाण्ड विद्वान पं. कल्याणविजयजी के मत में 'चैत्य' शब्द का अर्थ इस प्रकार है - "उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से पाठकगण समझ सकेंगे कि चैत्यशब्द "साधुवाचक" अथवा "ज्ञानवाचक" न कभी था न आज भी है। क्योंकि "चैत्य" शब्द की उत्पत्ति पूजनीय अग्निचयन वाचक "चित्या" शब्द से हुई है न कि 'चिता' शब्द से अथवा 'चिति संज्ञाने' इस धातु से। इन प्रकृतियों से "चैत", "चित्त", "चैतस्" शब्द बन सकते है, 'चैत्य' शब्द नही। श्री पुप्फभिक्खू की समझ में यह बात आ गई कि शब्दों का अर्थ बदलने से कोई मतलब हल नही हो सकता। पूजनीय पदार्थ - वाचक "चैत्य" शब्द को सूत्रों में से हटाने से ही अमूर्तिपूजकों का मार्ग निष्कण्टक हो सकेगा।"

(पट्टावली पराग पृ. ४५६)

"कोशकारों ने 'चैत्य' का अर्थ - 'जिनौकस्तद्बिम्बं, चैत्यो जिनसभातरुः किया है।" (उपरोक्त पुस्तक के पृ. ४५५)

प्रश्न-२७ का उत्तर :- द्वीपसागर प्रज्ञप्ति को आगम मानते ही है, ४५ आगम में उसकी गिनती नहीं करने में पूर्वाचार्यों की ४५ आगमों की संख्या

की विवक्षा ही कारण है । जिसकी स्पष्टता प्रश्न १३ के जवाब में भी कर चुके है ।

प्रश्न-२८ का उत्तर :- आगमों की प्रामाणिकता के लिये मूर्तिपूजक समाज में मतभेद नहीं हैं, केवल संख्या की धारणा में ही भेद है जो पूर्वाचार्यों की विवक्षा के आधीन है तथा इन संग्रहकारों का अन्य संख्या के संग्रह के लिए विरोध भी नहीं है ।

प्रश्न-२९ का उत्तर :- १० प्रकीर्णक के सिवाय को आगम नहीं मानने के आक्षेप ही गलत है, जिसका खुलासा इसी बात को लेकर पुछे प्रश्न १३ के उत्तर में दिया है । रचयिता के नाम नहीं मिलने पर भी आप भी उपांगों को मानते ही है तो अतिप्राचीन सुविहित परंपरा से प्राप्त इन पयन्नाओं में क्या हर्ज है, जिनके नाम एवं अतिदेश नंदीसूत्र में भी है ।

प्रश्न-३०, ३१, का उत्तर :- प्रश्न के जवाब प्रश्न १४ के उत्तर में आ जाते है । एक ही प्रकार का प्रश्न बार-बार पुछकर केवल ग्रन्थ के कलेवर को बढाना कितना उचित है ? पाठकगण स्वयं निर्णय करें !

दुसरी बात इस प्रश्न में आपने हरिभद्रसूरिजी को प्रकांड विद्वान, ज्ञानी, प्रभावक संतशिरोमणि, युगप्रधान आचार्य इन बिरुदों से नवाजा है, तो इन्ही युगप्रधान आचार्य द्वारा रचित पंचवस्तुक ग्रन्थ में पूर्वश्रुत में से उद्धृत 'स्तवपरिज्ञा' प्रकरण दिया है, वह तो आपको भी मान्य ही होगा उसमें जिन-प्रतिमा की पूजा को विस्तार से निर्दोष साबित किया है । तथा इन्हीं आचार्य द्वारा रचित पंचाशक ग्रंथ का इसी पुस्तिका में दिया हुआ श्लोक मननीय है-

'देहादिणिमित्तंपि हु जे, कायवहम्मि तह पयट्टंति
जिणपूआकायवहम्मि, तेसिमपवत्तणं मोहो ।।४५।।

श्रावक प्रज्ञप्ति (श्लोक ३४९) अगर नहीं मानते हो, तो युगप्रधान पूर्वाचार्यों के सपूत कैसे कहलाओगे ?'

१० पूर्वधर पू. उमास्वातिजी रचित तत्त्वार्थ सूत्र तो चारों फिरकों में मान्य हैं, उसमें तो मूर्तिपूजा वगैरह की बातें भी नहीं है, तो भी आप उसे ३२

आगम मे क्यों नहीं मानते हैं ?

प्रश्न-३२ का उत्तर :- इसका जवाब प्रश्न १९ के जवाब में आ गया है।

प्रश्न-३३ का उत्तर :- श्रावक के कर्तव्य या किसी धर्मानुष्ठान का फल निरूपण करने के स्वरुप मार्ग प्ररूपणा करना सावद्य भाषा में नहीं आता है, वह प्रज्ञापनी भाषा कहलाती हैं। उसमें मंदिर, पूजा, सामायिक, पौषध, तप, दीक्षा, स्वाध्याय आदि सब आते है। क्या स्थानकवासी संत धोवन पानी पीने की, गुरु-वंदन, जीवदया आदि की प्रेरणा नहीं करते है ? इन प्रेरणाओं को लेकर अगर कोई धोवन पानी का उपयोग चालु करें, या चातुर्मासादि में गुरुवंदन आदि करने जावें, गाय आदिको घास एवं कबुतर आदि को चुग्गा डालेंगे, उसमें जो अप्काय, वनस्पतिकाय वगैरह की विराधना होती है, तो क्या उसमें उनके गुरुओं को पाप लगेगा ? हाँ उसमें अगर कोई भी साधु भगवंत किसी भी सावद्य क्रिया की **Direct** प्रेरणा करेंगे, तो उसमें आज्ञापनी भाषा का दोष तो लगता ही है। परंतु मार्ग प्ररूपणा या कर्तव्य-निरुपण में दोष नहीं लगता है।

प्रश्न-३४ का उत्तर :- देवलोक में शाश्वत प्रतिमाएँ एवं उनके नाम विषयक शंकाओं के उत्तर "शास्त्र पाठ से चोरियाँ" की समीक्षा प्रकरण तथा "मूर्तिपूजकों के धर्म की विचारणा" की समीक्षा प्रकरण में दिये जा चुके हैं।

प्रश्न-३५ का उत्तर :- मुहपत्ति आदि नाम होते हुए भी हाथ में रखने के विषयक प्रश्न का 'मुखवस्त्रिका वार्ता की समीक्षा' प्रकरण में विस्तार से उत्तर दे चुके हैं, फिर भी आपके संतोष हेतु यहाँ पर भी उत्तर दिया जाता है -

रजोहरण का अर्थ 'रज को हरण करने वाला' होता है। आपके हिसाब से तो रजोहरण पुरे दिन धुल को हटाने में काम लिया जाता रहे, तो ही वह रजोहरण कहलायेगा, परंतु आप तो रजोहरण को बहुलतया कंधे पर ही धारण किये हुए रहते हो। तो वह रजोहरण कैसे कहलायेगा ?

तीर्थंकर का अर्थ 'तीर्थ की स्थापना करनेवाला' तो क्या भगवान महावीर तीर्थ की स्थापना के बाद ३० साल पृथ्वीतल पर विचरें तब वे तीर्थंकर

नहीं थे ? व्यवहार में भी क्वचित् होने वाले किसी मुख्य कार्य को लेकर ही वस्तु का नाम प्रवृत्त होता है, २४ घंटे उस कार्य का होना आवश्यक नहीं है। जैसे कि कोई **Doctor, Driver, Teacher, Toothbrush** चाय की केटली वगैरह ऐसे तो कई प्रयोग है। जैसे वहाँ उन नामों की सार्थकता, प्रयोजन के आने पर ही क्वचित् होती है, उसी तरह 'बोलते आदि समय पर मुख के आगे धारण करना', यह प्रयोजन है जिसका वह 'मुखवस्त्रिका' कहलाती है। हाथ या केड में रखने पर भी उसे पूर्वोक्त वस्तुओं की तरह व्यवहार नय से 'मुखवस्त्रिका' ही कहा जाता है।

हाँ, एवंभूत नय (निश्चय नय) से तो प्रयोजन वश जब उसका उपयोग होता हो, तभी वह मुखवस्त्रिका कहलाती है। इस नय से, बिना प्रयोजन मुख पर धारण की जानेवाली आपकी मुखवस्त्रिका (?) मुखवस्त्रिका नहीं कही जा सकती है। तथा डोरे में परोयी हुई मुखवस्त्रिका, शास्त्र निर्दिष्ट नहीं होने से वह व्यवहार नय से भी मुखवस्त्रिका नहीं कहलाती है।

अतः हमारी,प्रयोजन पडने पर उपयोग में ली जानेवाली मुहंपत्ति दोनों नयों से मुखवस्त्रिका के रुप में सिद्ध होती है, जबकि आपकी तो दोनों ही नयों से असिद्ध होती है। लेखक महाशय को जरुरत है कि लौकिक व्यवहार एवं लोकोत्तर ऐसे जिनशासन के नय-निक्षेपों का गुरुगम पूर्वक ज्ञान प्राप्त करें।

प्रश्न-३६ का उत्तर :- मुखवस्त्रिका का उपयोग नहीं करना, प्रमाद कहलाता है, उतने मात्र से 'वह साधु नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते है। जैसे आप के कई साधु भी नीचे देखे बिना चलते है, बिना पुंजे - प्रमार्जे बैठते है, इत्यादि प्रमाद को लेकर उन्हें आप क्या जिनाज्ञा बाह्य, असाधु मानते हो ?

प्रश्न-३७ का उत्तर :- यह प्रश्न, प्रश्न न होकर केवल आक्षेपबाजी करने स्वरुप है।

लेखक ने लगाये हुए आक्षेप के लिए प्रमाण देते हुए लिखा कि 'प्रश्न प्रमाण के लिए देखे, शंकाएं सही समाधान नहीं - प्रथमावृत्ति'। लेखक की

सूचना के अनुसार 'शंकाएँ सही समाधान नहीं' इस पुस्तिका के पुरे निरीक्षण करने पर कहीं पर भी किसी पर कठोर, आक्षेप भरे वाक्य वगैरह देखने में नही आये हैं । वह स्थानकवासी भाईयों के द्वारा ही छपायी गयी थी । मंदिरमार्गी संतों की बातें सुनकर जो शंकाएँ उत्पन्न हुई वे पुछी गयी थी,परंतु समाधान नहीं मिलने पर वे शंकाएँ ही प्रकाशित की गयी है, ऐसा उसके प्रास्ताविक कथन से स्पष्ट समझ में आता है । पुस्तिका में किसी समाज पर आक्षेप नहीं किये गये हैं, परंतु केवल सौम्य भाषा में प्रश्न पुछे गये हैं । फिर उसमें लेखक को इतना आक्रोश करने की जरुरत क्या हुई ? उत्तर नहीं आता हो तो गुस्सा करना क्या समझदारी कहलाती है ?

'अपने को चोर, धूर्त-शिरोमणि, डरपोक और महाकपटी, प्रपंची, दुर्मतिवाला कहा जाने के कर्तव्य कर रहा है' लेखक के ये शब्द किनको लागु पडते है, यह पाठक विचार करें, क्योंकि उन्होंने ही तुच्छ भाषा में तथा आक्षेपभरी यह गुमनाम पुस्तिका निकाली है, जिसमें वीतराग देव की मूर्ति की निंदा, आगमों की अवलेहना, पूर्वाचार्यों पर आक्षेप, स्थानकवासी, मंदिरमार्गी एवं तेरापंथी आचार्यादि को गद्दार वगैरह कहने की कुचेष्टा की है । और ऐसे अविवेकी कार्य करके नाम छुपाकर बैठे है ।

प्रश्न-३८ का उत्तर :- दिगबंरो के खुद के इतिहास में द्वितीय भद्रबाहु की बात आती है, जिनका विक्रम की छट्ठी शताब्दी में अस्तित्व था । हो सकता है, वराह मिहिर उनके भाई रहे हो और यहां किंवदंती कालक्रम से निर्युक्तिकार प्रथम भद्रबाहुस्वामी से जुड गयी हो । निर्युक्तियों में भाष्य की गाथाएं मिश्रित हो गयी होने से, इसमें मिलनेवाली परवर्ती घटनाओं के उल्लेखों से आधुनिक इतिहासकारों ने परापूर्व से सुविहित परंपरा से चली आ रही निर्युक्तिकार के श्रुतकेवली होने की मान्यता को उडाकर निर्युक्तिकार को निमित्तवेत्ता द्वितीय भद्रबाहुस्वामी मानने की बातें लिखी है ।

वास्तव में निर्युक्तिकार प्रथम भद्रबाहुस्वामी थे, जबकि वराहमिहिर की वार्ता द्वितीय भद्रबाहुस्वामी संबंधी लगती है । इस बात की पुष्टि बृहत्कल्पभाष्य

के आमुख में पुण्यविजयजी म. ने भी की है। एवं इतिहास के इस प्रश्न के समाधान को पाने के लिए डॉ. सागरमल जैन ने भी 'दशाश्रुतस्कन्ध एक अध्ययन' में प्रयास किया है और निर्युक्तिकार को अपने हिसाब से आर्यरक्षित सूरिजी के निकटवर्ती (विक्रम की दुसरी शताब्दी, वीर नि. ५८४) होना संभवित किया है। उनके कथन से भी निर्युक्तिकार वराहमिहिर से लगभग ४०० साल पहले होने सिद्ध होते है।

प्रश्न-३९ का उत्तर :- वराहमिहिर की वराहिसंहिता के पीछे अंत में लिखा हुआ संवत् लेखक स्वयं निकालकर देख लेवें। उसका कोई महत्त्व नही है। प्राय: वि.सं ५६२ है।

प्रश्न-४० का उत्तर :- धन्यवाद ! धन्यवाद !

इतनी तो आपको सद्बुद्धि हो गयी कि अंत में आपने स्वीकार कर लिया की मूलसूत्रों में अविरत श्रावक एवं देवों द्वारा मूर्तिपूजा करने की बात आती है। क्योंकि आपने प्रश्न में १२ व्रतधारी श्रावक द्वारा मूर्तिपूजा के उल्लेख के बारे में पुछा है।

आपने ४५ या ७२ आगम में श्रावक द्वारा मूर्तिपूजा के लिए पाठ मांगे है, अत: आपके संतोष हेतु सर्वप्रथम उभयमान्य ३२ आगम के संक्षेप से कुछ पाठ दिये है, बाद में शेष आगमों के कुछ पाठ दिये है।

लेखक महाशय तटस्थतापूर्वक दिये जानेवाले प्रमाणों पर विचारें।

(i) भगवतीसूत्र शतक २२, उद्देशा ११, में रानी पद्मावती और बलराजा ने महाबल (सुदर्शन श्रेष्ठी के पूर्व भव) के जन्म समय में महोत्सव किया, उसके वर्णन में 'सए सहस्सीए, सयसाहस्सीए जाए दाए भाए....' इत्यादि लिखा है। यहाँ पर 'जाए' का अर्थ यज्ञ नहीं कर सकते है, परंतु 'जिनभक्ति महोत्सव' अर्थ करना पडता है, क्योंकि रानी के लिए 'देवगुरुजणसंबद्धाहि कहाहिं जागरमाणी...' ऐसा लिखा है, अत: उसके सम्यग् दृष्टि होने से 'जाए' से जिनपूजा ही अभिप्रेत सिद्ध होती है।

(ii) आचारांग तृतीय चूला, ३ भावना अध्ययन में महावीर स्वामी के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान के अनुयायी थे, ऐसा लिखा है, अतः कल्पसूत्र में (पीछे के प्रकरणों से दशाश्रुतस्कन्ध के ८वां अध्ययन के रुप में सिद्ध) प्रभुवीर के जन्म महोत्सव में भी 'सए सहस्से सयसहस्सीए ज़ाए दाए भाए....' इत्यादि द्वारा सूचित यज्ञ-जिनमंदिरों में परमात्मभक्ति महोत्सव सिद्ध होता है।

(iii) भगवती सूत्र में तुंगीया नगरी के श्रावकों के वर्णन में 'कयबलिकम्मे' के द्वारा जिन प्रतिमा-पूजन का सूचन मिलता है, जिसका अर्थ नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरिजी ने भी किया है । अभयदेवसूरिजी की प्रामाणिकता के लिए नेमिचंदजी बांठिया ने भी 'विद्युत बादर तेजस्काय है' पुस्तक के पृ. ७४ में लिखा है - "बंधुओ ! कहाँ आगम मनीषी नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरिजी की सरलता, निरभिमानता एवं उत्सूत्र प्ररुपणा का भय जो उनके उक्त उद्‌गारों से परिलक्षित हो रहा है...."

(iv) आवश्यक निर्युक्ति में श्लोक ४९० में 'वग्गुर' श्रेष्ठी द्वारा, मल्लीनाथ भगवान की पूजा का उल्लेख मिलता है ।

(v) भक्त परिज्ञा - श्लोक ३० में देशविरतिधर श्रावक अंत समय में पुनः अणुव्रत लेकर अपने द्रव्य को नूतन जिन मंदिर, जिनबिंब आदि की प्रतिष्ठाओं तथा प्रशस्त पुस्तक, अच्छे तीर्थ एवं तीर्थंकरों की पूजा में वितरित करता है, ऐसा लिखा है ।

"निअदव्वमपुव्वजिणिंदभवनजिणबिंबवर पइट्ठासु ।
विअरइ पसत्थ पुत्थय सुतित्थतित्थयरपूआसु ॥३०॥"

(vi) आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३२२ में श्रेयांसकुमार ने प्रभु के पारणा स्थान पर रत्नमय पीठ बनाकर पूजा की थी ।

आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३३५ में बाहुबलीजी द्वारा धर्मचक्र तीर्थ की स्थापना ।

(vii) गृहस्थ के लिए मूर्तिपूजा हितकारी होती है, देखिये महानिशीथ सूत्र का पाठ 'तेसिय तिलोयमहियाण धम्मतित्थगराण जगगुरुणं भावच्चण दव्वच्चण भेएण दुहच्चणं भणियं भावच्चणं चरित्ताणुट्ठाण - कट्ठुग्ग घोर तव चरण, दव्वच्चणं, विरयाविरय-सील-पूया सक्कारदाणाइ । तो गोयमा एसत्थे परमत्थे । तं जहा, भावच्चणमुग्गविहारयाय दव्वच्चणं तु जिन-पूया । पढमा जईण दोन्निवि गिहीण ॥'

इस प्रकार स्पष्ट, पूजा के दो भेद बताकर "मुनि को भाव पूजा ही है, श्रावक को द्रव्य-भाव यह दोनों पूजा है" इस परमार्थ सत्य को महानिशीथ सूत्र में बताया गया है ।

(viii) गणिविज्जा प्रकरण में -

'धणिट्ठा सयभिसा साईस्सवणो अ पुणव्वसु । एएसु गुरुसुस्सूंस चेइआणं च पूअणं ॥१॥'

'जैसी दे वैसी मिले, कुए की गुंजार' के लेखक की मनोदशा

मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्यानुधावति,
तामाकर्षति पुच्छेन तुच्छाग्रह मनःकपि ॥

मध्यस्थ मनुष्य और कदाग्रही तुच्छाग्रहवाले मनुष्य में यह फर्क है कि जैसे गाय का बच्चा, गाय का सहजता से अनुसरण करता है, वैसे मध्यस्थ व्यक्ति का मन सद्‌युक्ति का अनुसरण करता है । जबकि कदाग्रही युक्ति को अपनी तरफ खींचता है, यानि अपनी मानी हुई वस्तु को सिद्ध करने में कुयुक्ति दौडाता है, जैसे कोई बंदर पुँछ पकडकर गाय को अपनी तरफ खींचता है ।

यह अनुभव गुंजार में अनेक स्थानों पर होता है जैसे कि -

(१) सपूत बनने के लिए "पूर्वाचार्य हमारे हैं" "हम उनकी संतान हैं"

ऐसा कहते है, जबकि वास्तविकता यह नही है क्योंकि आगे खुद ही पूर्वाचार्यों की निंदा - उन पर आक्षेप करते है ।

(२) लेखक ने खुद के वास्तविक पूर्वज घासीलालजी को महान् पूर्वाचार्यों से भी ज्यादा महत्व देने की कोशिश की है । जबकि उनकी ३२ सूत्र की टीकाएँ, अनेक स्थलो में पूर्व टीका-पाठों की कोपी की हुई, कहीं पर पाठ परिवर्तनवाली - कहीं पर अर्थ परिवर्तनवाली और भाडुती पंडितों द्वारा बनवायी गयी हैं ।

(३) गुंजार के पृ. ९ पर द्रौपदी के द्वारा कामदेव की पूजा और पृ. १० पर शाश्वत प्रतिमा तीर्थंकर की नहीं है, इसकी सिद्धि करने की कोशिश की है और पृ. ४७ पृ. ४९ में उन स्थलों पर पाठ प्रक्षेप के झूठे आक्षेप दिये हैं । अगर वे पाठ झूठे है तो कामदेव वगैरह अर्थ ही क्यों किये ? आप अर्थ करते हो उसका मतलब पाठ सच्चे है, अन्यथा कामदेव वगैरह अर्थ करने की जरुरत ही नहीं पडती । आपकी इस चेष्टा से सामान्य व्यक्ति भी समझ सकता हैं कि आपको मूर्ति-मूर्तिपूजा के प्रति द्वेष है, शास्त्रों के प्रति प्रेम नहीं है, इसलिए उपर बतायी कुयुक्तियों को खींचने की कदाग्रही की भूमिका निभा रहे हो ।

(४) पृ. ४८ से ५० में विद्वद्वर्य कल्याणविजयजी के नाम से गलत बातें पेश की है ।

(५) पृ. ५१ 'द्रव्यपूजा भावपूजा' में बेईमानी से पूर्वपक्ष का आधा पाठ ही पेश करके पाठकों को भ्रमित करने की कोशिश की है ।

(६) 'मुखवस्त्रिका वार्ता' प्रकरण में कदाग्रह से दिनभर मुहपत्ती मुँह पर बांधने की कुप्रथा की सिद्धि में पाठकों को भ्रमित करने हेतु १७ गलत प्रमाण पेश किये हैं ।

(७) अपनी गलत मान्यता के काले चश्मे पहने हो तो, आगमों को भी

अपनी तरफ खींचने की कोशिश करनी पडती है तथा दुसरा कोई अर्थ नहीं कर सकते हो तब मूलसूत्रों में प्रक्षेप - प्रक्षेप का मिथ्या बकवास करना पडता है। (देखिये उसी के पृ. ४५ से पृ. ४७) और युक्तियों को भी अपनी तरफ खींचने पडती है। अगर लेखक अभिनिवेश के काले चश्मे को उतार कर तटस्थ दृष्टि से विचारें, तो यह सब करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

"मुखवस्त्रिका संवाद"

जिज्ञासु :- मत्थएण वंदामि। आज आपने प्रवचन में वायु में असंख्यात जीवों का होना बताया, तो उनकी रक्षा के लिए मंदिरमार्गी संत मुंह पर मुंहपत्ति क्यों नहीं बांधते है ?

सद्गुरु : बोलने आदि के समय हाथ के द्वारा मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखने से यतना हो जाती है, अत: बांधने की जरुरत नहीं रहती है।

जिज्ञासु :- मत्थएण वंदामि ! अगर मुंहपत्ति बांधकर रखें तो, मुंह के एकदम नजदीक रहती है, अत: वायुकाय के जीवों की विराधना नहीं होती है। जबकि हाथ में रखी मुंहपत्ति मुंह से थोडी दूर रहती है, अत: वायुकाय के जीवों की विराधना होती है।

सद्गुरु : पहली बात तो यह है कि, हाथ में रखी हुई, मुंहपत्ति भी मुंह के एकदम नजदीक रह सकती है तथा मुंहपत्ति बांधने पर भी मुंह और मुंहपत्ति के बीच में रहे हुए असंख्य वायुकाय के जीवों की विराधना तो होती ही है, इसलिए बांधने की जरुरत नहीं हैं।

दुसरी बात, ३२ या ४५ आगमों में कहीं भी मुखवस्त्रिका के प्रयोजनों में वायुकाय की रक्षा को नहीं बताया है, परंतु संपातिम (उडनेवाले सूक्ष्म जीव) की यतना को उसका प्रयोजन बताया गया है।

जिज्ञासु : कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य द्वारा रचित योगशास्त्र में तो वायुकाय की यतना को भी प्रयोजन रुप में बताया ही है, यह तो मंदिरमार्गी आचार्य का ही ग्रन्थ है।

सद्‌गुरु :- क्या स्थानकवासी संत आदि, आगम में मुंहपत्ति के प्रयोजनों में वायुकाय की रक्षा को नहीं बताये जाने पर भी, उसे ही मुख्य प्रयोजन मानने की अपनी महत्वपूर्ण धारणा को मंदिरमार्गीओं के ग्रन्थों के आधार से ही मानते है ? अगर ऐसा है तो वे 'योगशास्त्र' में निर्दिष्ट अन्य बातों कों क्यों नही मानते है ? तथा योगशास्त्र में भी वायुकाय की रक्षा हेतु २४ घंटे मुंहपत्ति बांधना बताया नहीं है ।

अस्तु, यह तो केवल प्रासंगिक बात बतायी है । योगशास्त्र में भी वायुकाय के जीवों की रक्षा की बात उपष्टम्भक हेतु के रुप में ही है ।

सर्वप्रथम तो आगम निर्दिष्ट मुख्य प्रयोजन रुप "संपातिम जीवों (उडनेवाले सूक्ष्म जीव) की रक्षा" को ही बताया है और ये सब प्रयोजन हाथ में रखी हुई मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखने से भी सिद्ध ही है ।

योगशास्त्र का पाठ इस तरह है :

मुखवस्त्रमपि सम्पातिमजीवरक्षणादुष्णमुखवातविराध्यमान -
बाह्यवायुकायजीवरक्षणान्मुखे धूलिप्रवेशरक्षणाच्चोपयोगि ।

(योगशास्त्र तृतीय प्रकाश)

जिज्ञासु :- मत्थएण वंदामि ! आगमों में मुंहपत्ति के प्रयोजनों में 'वायुकाय की रक्षा' को क्यों नहीं गिना है ?

सद्‌गुरु :- देखो ! वायुकाय अतिसूक्ष्म एवं सर्वत्र व्याप्त है, अतः अपने विहार, पडिलेहण आदि हर संयम योगों से अपरिहार्य रुप से उनकी विराधना तो होती ही है, यहाँ तक कि मुंहपत्ति को बांधकर बोला जावें, तब भी मुंह और मुंहपत्ति के बीच में रहे हुए असंख्य वायुकाय के जीवों की सामान्य रुप से विराधना होती ही है ।

इस कारण से, आगमों में कहीं पर भी "खुले मुंह बोलने से या मुह ढककर बोलने से वायुकाय की हिंसा होती है," इसलिए "मुंहपत्ति बांधो या मौन रहो ऐसा विधान नहीं किया गया है । परंतु" "न फुमेज्जा, न वीएज्जा" इत्यादि के द्वारा जिसमें मुख्यरुप से वायुकाय की विराधना होती है, जैसे कि

फूंक देना, पंखा वींजना, हवा खाने बैठना (आचा. अ. १. उ. ७ निर्युक्ति गा. १७०) वगैरह ऐसी चेष्टाओं के निषेध में वायुकाय की रक्षा को मुख्य प्रयोजन बताया है ।

से भिक्खू वा २ उस्सासमाणे वा नीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ति तओ संजयामेव ऊसरिज्जा वा जाव वायनिसग्गं वा करेज्जा ॥ (आचा. श्रु. २. चू. १ अध्य. २, उ. ३ सूत्र १०९)

इस सूत्र के द्वारा मुँह आदि की - क्रियाओं में होती वायुकाय की विराधना में बोलने की क्रिया को नहीं बताया है ।

इस प्रकार बोलने आदि में वायुकाय की सामान्यरूप से आनुषांगिक विराधना होती रहने से आगमों में उसकी रक्षा को मुंहपत्ति के प्रयोजन में नहीं बताया है, जबकि योगशास्त्र में बोलने आदि के समय में भी वायुकाय की शक्य यतना को भी प्रयोजन में गिना हो, ऐसा समाधान किया जा सकता है । बाकि तो ज्ञानी कहें वहीं प्रमाण । कुछ भी हो, हाथ में रही मुंहपत्ति से भी ये सब प्रयोजन सिद्ध होते ही है, तथा आगम निर्दिष्ट शरीर की प्रमार्जना आदि *प्रयोजन भी हाथ में रखी मुंहपत्ति से ही सिद्ध हो सकते है, बांधने से नहीं ।

दुसरी बात अगर आगम में वायुकाय की ही रक्षा हेतु मुंहपत्ति बांधने को कहा होता और अगर उसीलिए स्थानकवासी संत आदि उसको बांधते है और उसका उपदेश देते है तो फिर मुंहपत्ति केवल मुंह के आगे ही क्यों बांधी जाती है ? उसे तो नाक के उपर तक बांधनी चाहिए क्योंकि नाक से श्वास आदि द्वारा सतत वायुकाय की विराधना होती है, अतः समझ सकते है कि

---

* टिप्पण :- (१) से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमाज्जिय... सिज्जासंथारयं सईज्जा । (आचा.श्रु३,चू.१, अध्य.२, उ.३, सूत्र १०८)

(२) 'हत्थगं संपमज्जित्था तत्थ भुंजिज्ज संजए'

(दश.सू.अध्य.५,उ.१,गा.)

वायुकाय की रक्षा को लेकर २४ घंटे मुंहपत्ति बांधना आगमकारों को इष्ट नहीं है और वर्तमान में भी बांधी जानेवाली मुंहपत्ति से भी वायुकाय की रक्षा का प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता है ।

जिज्ञासु :- तहत्ति ! आपश्री तो ज्ञान के सागर हो ! आपश्रीने आगम के पाठ एवं व्यवहारिक दृष्टांत से सटीक समाधान दिया है ।

सद्गुरु :- एक प्रश्न पुछुं ? बुरा तो नहीं लगेला ?

जिज्ञासु :- पुछिए !

सद्गुरु :- क्या स्थानकवासी संत आदि आहार (गोचरी) करते समय मुंहपत्ति को मुंह पर बांधकर रखते है या उसे खोलते है ?

जिज्ञासु :- खोलते ही है, क्योंकि उसके बिना आहार कैसे ग्रहण कर सकेंगे ?

सद्गुरु : सही बात है । हमने भी उन्हें मुंहपत्ति निकालकर आहार करते हुए देखा है ।

अब दुसरा प्रश्न, अगर उन्हें आहार करते समय कोई कार्य आ जावें तो वे कैसे बोलेंगे ?

जिज्ञासु : पहली बात तो वे मौन रखते होंगे एवं अति जरुरी प्रयोजन आने पर हाथ या वस्त्रादि को मुंह के आगे रखकर बोलते होंगे ।

सद्गुरु : अरे ! वे ऐसा क्यों करते हैं ! आपके हिसाब से उन्हें तो हाथ एवं मुंह धोकर, पुनः मुंहपत्ति को मुंह पर बांधकर, बोलकर अपना कार्य निपटाकर पुनः उसे खोलकर आहार क्रिया को आगे बढाना चाहिए ।

जिज्ञासु : ऐसा करना तो अव्यवहारिक है । आहार करते समय तो हाथ या वस्त्र आदि से यतना करना ही उचित है ।

सद्गुरु : अगर आहार करते समय हाथ या मुंहपत्ति आदि के द्वारा यतना हो सकती है, तो पुरे दिन में जब प्रयोजन आवें (सामान्यतः मुनि मौन रखते है), तब मुंहपत्ति को आगे रखकर यतना करने में क्या हर्ज है । पुरे दिन निष्कारण मुंहपत्ति बांधे रखना क्या अव्यहारिक नही है ?

जिज्ञासु : आपकी बात तो सही है, अगर आहार के समय जरुरी कार्यवश बोलने के लिए बिना मुंहपत्ति बांधे, केवल हाथ या मुंहपत्ति को आगे रखकर यतना की जा सकती है, तो पुरे दिन में उसी तरह करना ही उचित है ।

सद्गुरु : दुसरी बात, कोई चुस्त स्थानकवासी श्रावक रास्ते में जा रहें हो एवं उन्हें स्थानकवासी संत-सतियाँ मिल जावें अथवा अचानक कोई स्थानक में गुरुमहाराज को मिलने का प्रयोजन आ जावें तो उस समय कैसे वार्तालाप करेंगे ?

जिज्ञासु : वह श्रावक तुरंत हाथ में रुमाल लेकर मुँह के आगे रखते हुए बोलेगा ।

सद्गुरु : अगर सामायिक बिना भी श्रावक अचानक बोलने के प्रसंग में मुंह के आगे रुमाल रखने का उपयोग रख सकता है तो, सामायिक लेकर प्रवचन आदि सुनते समय तो प्राय: मौन रखना होता है, तो उस समय मुंहपत्ति बांधने की क्या जरुरत है ? वहाँ पर भी जरुरत पडने पर बोलते समय मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखकर यतना की जा सकती है ।

जिज्ञासु : आपश्री हर बात को इतने सचोट तर्क एवं उदाहरणों से समझाते हो कि तुरंत दिल और दिमाग में बैठ जाती है ।

सद्गुरु : बहुत अच्छा ! आपके जैसे मध्यस्थ सत्यान्वेषी जिज्ञासुओं को ही आगम के गूढ रहस्य सरलता से हृदय में उत्तर जाते है ।

अब दुसरी बात सुनो ! पुरे दिन मुंहपत्ति बांधकर रखने में एक अपेक्षा से तो भावहिंसा भी होती है ।

जिज्ञासु : हें !! यह बात तो कभी सुनी नहीं है, जरा विस्तार से समझाने की कृपा करें ।

सद्गुरु : (१) जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा । (आचारांग सूत्र) इस सूत्र से आगमकारों ने साधक आत्मा के उपयोग - यानि भावों के आधार पर ही कर्मबंध या निर्जरा का होना सूचित किया है । (२) तथा 'जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए,'

जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ । (दश. ४ अध्ययन) के द्वारा प्रमाद रहित यतना करने वाले साधु को द्रव्य से हिंसा होने पर भी पाप-कर्म का बंध नहीं होता है, ऐसा बताया है ।

(३) कर्मसाहित्य भी इसी बात को पुष्ट करता है, वह इस तरह : जब तात्त्विक हिंसा होती है, तब अशातावेदनीय कर्म का बंध होता है, जब कि छट्ठे (प्रमत्त) गुणस्थानक के बाद अशातावेदनीय का बंध विच्छेद बताया है, यानि कि ७वें और उसके उपर के गुणस्थानकों में तात्त्विक हिंसा (हेतु अनुबंध) नहीं होती है और प्रमाद है वहाँ हेतु हिंसा होने से अशाता का बंध है ।

आगमों में बात आती है कि केवलज्ञानी भगवंत या अप्रमत्तमुनि उपयोग पूर्वक चलते हो और अगर उनके पैरों के नीचे काई संपातिम जीव आ जाए तो भी उन्हें उसकी हिंसा का पाप नहीं लगता है ।

उसी तरह शास्त्रोक्त विधि के अनुसार हाथ से मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखकर बोलने में होने वाली वायुकाय के जीवों की हिंसा में दोष नहीं लगता है, यह समझ सकते हैं ।

अगर प्रमत्त साधक नीचे देखें बिना चलता है और कोई जीव नहीं मरता है, तो भी उसे हिंसा का दोष लगता है, क्योंकि वहाँ प्रमाद रुपी भावहिंसा (हेतु हिंसा) चालु है ।

अतः प्रमाद है वहाँ हिंसा होती है, अप्रमाद में अहिंसा है । अब देखो मुंहपत्ति बांधे रखने में प्रमाद एवं जीवदया के परिणाम के सातत्य का अभाव किस तरह होता है ।

जिज्ञासु :- कैसे होता है ? जरा उदाहरण देकर बतायें ! यह बहुत गहन विषय लग रहा है ।

सद्‌गुरु : जैसे कोई चप्पल पहनकर चलता है, उसे कंटक आदिका भय नहीं होने से उसका उपयोग नीचे देखने में नहीं रहता है । अगर उपाश्रय - स्थानक में दिन भर रजोहरण से कोई प्रमार्जन करते हुए चलता है और नीचे देखने में ध्यान नहीं रखता है तो, जीव की हिंसा नहीं होने पर भी वहाँ ईर्यासमिति का उपयोग नहीं रहने से जीवदया के भाव नहीं कहे जाते है और उसे प्रमाद ही कहा जाता है ।

उसी तरह पुरे दिन मुंहपत्ति बांधे रखने में भी प्रमाद एवं जीवदया के परिणाम का सातत्य भी नहीं रहता है और ईसीलिए ऐसा देखा भी गया है कि क्रिया में चुस्त ऐसे स्थानकवासी संत भी आहार करते समय मुंहपत्ति निकालकर, मुक्तदिल से खुले मुंह बोलते है, जबकि मंदिरमार्गी कई संत जिन्हें मुंहपत्ति का उपयोग रखने की अप्रमत्तता है, वे आहार करते समय भी प्रयोजन आने पर पानी से मुँह को शुद्ध करके मुंहपत्ति या वस्त्रखंड को मुंह के आगे रखकर ही बात करते है।

जिज्ञासु : आपका अनंत उपकार है, आपने मेरी मिथ्या-भ्रान्ति मिटायी और मुझे अनेकान्तवाद की दिव्यदृष्टि प्रदान की। परंतु, मुझे एक छोटा संशय रह गया है, जो पुछना चाहता हुँ ?

सद्गुरु : नि:शंक पुछो।

जिज्ञासु : कई मंदिरमार्गी संतों को भी मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखकर बोलने में भूल होती रहती है, प्रमाद आ जाता है, तो क्या इस दोष से बचने के लिए मुंहपत्ति बांधकर रखने का आपवादिक आचरण स्वीकार्य नहीं हो सकता है ?

सद्गुरु : नहीं ! क्योंकि देश-काल आदि की विषमता के कारण अपवाद का सेवन करना विहित है परंतु मुंहपत्ति बांधे रखने के लिए ऐसी कोई विषम परिस्थितियां नहीं है, अत: वह अपवाद का स्थान नहीं है, तथा

(१) अनाभोग आदि से, प्रमाद से उपयोग नहीं रहना छोटा दोष है जबकि २४ घंटे मुंह पर बांधने में बडे प्रमाद का दोष लगता है।

(२) पुरे दिन भर शास्त्रनिर्दिष्ट मुंहपत्ति के कई अन्य कार्य होते हैं, जैसे कि गोचरी एवं संथारा के पहले मुंह आदि की प्रमार्जना तथा हाथ, मुंह आदि पर चींटी आदि सूक्ष्मजीव आ जावें, तो वहाँ रजोहरण उपयोगी नहीं बनता है, वहाँ पर तो मुंहपत्ति का ही प्रयोग किया जाता है। ऐसे जीवरक्षा के प्रयोजन, मुंहपत्ति बांधी हुई रखने पर सिद्ध नहीं हो सकते है। अत: संयम विराधना का दोष भी लगता है। अगर इस हेतु पूजनी वगैरह रखें तो अधिक उपकरण का दोष लगता है।

(३) साधु के वेश में 'डोरे से मुंहपत्ति बांधना' किसी आगम या आगमेतर शास्त्र में नहीं आता है, परंतु हाथ में मुंहपत्ति रखने की बात ही आती है।

(अ) 'हत्थगं संपमज्जित्था....' (दशवै. पूअध्य.गा. ८३)

'हस्तकं मुखवस्त्रिका रुपम्, आदायेति वाक्यशेषः, संप्रमृज्य विधिना तेन कायं तत्र भुञ्जीत 'संयतो' रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः।' (हारिभद्री टीका) मुंहपत्ति के लिये 'हत्थगं' शब्द ही बताता है कि मुंहपत्ति हाथ में रखने की है और उसीसे काया की प्रमार्जना शक्य है।

(ब) ततेणं सा मियादेवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी अणुकड्ढमाणी जेणेव भूमिघरे तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छित्ता चउप्पुडिणं वत्थेणं मुहं बंधेति, मुंह बंधमाणि भगवं गोयमं एवं वयासी - तुब्भे वि णं भंते !

मुहपोत्तियाए मुहं बंध। तते णं से भगवं गोयमे मियादेवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बंधेति। (श्री विपाकसूत्रं, प्रथम अध्ययन)

इस मूल आगम में स्पष्ट बताया है कि मृगादेवी ने पहले खुदने चारपड के वस्त्र से अपने मुंह को बांधा और फिर गौतम स्वामीजी को मुंहपत्ति से मुंह बांधने को कहा है। व्यवहार में भी दुर्गंध से बचने के लिए मुंह बांधते उसमें मुंह (दो होठ) एवं नांक दोनो ढंक जावे उस तरह बांधते है अकेले नाक को नही बांधते है और ना ही मुंह (दो होठ) ढके हो तो नाक को ढंकने के लिए "मुंह बांधो" ऐसा कहते है अपितु "नाक बांधो" ऐसा ही प्रयोग किया जाता है, इसलिए 'मुहं बंधह' से केवल नाक बांधने का कथन समझना भी गलत ही है। दुसरी बात जैसे मृगावती के लिए "मुहं बंधेति" लिखा वैसे गौतमस्वामीजी के लिए भी "मुहं बंधेति" ही पाठ है अतः जैसे मृगावती का मुंह पहले खुला (ढांके बिना का) था और बाद में मुंह को बांधा था वैसे ही इस मूल आगम से गौतम स्वामी के मुंह पर मुंहपत्ति नहीं बंधी हुई थी, यह सिद्ध होता है।

(स) आवश्यक निर्युक्ति और टीका में काउस्सग्ग में मुंहपत्ति दाहिने हाथ में, रजोहरण बायें हाथ में रखने का स्प्ट उल्लेख है, उससे सिद्ध होता है,

कि जब बोलने की आवश्यकता नहीं तब मुंहपत्ति बांधनी नहीं है, अपितु हाथ में रखनी है - पाठ इस प्रकार है -

"चउरंगुल मुहपत्ती उज्जूए डब्बहत्थ रयहरणं वोसट्टचत्तदेहो काउस्सग्गं कहिज्जावहि ॥१५४५॥"

टीका - मुंहपत्ति उज्जुए 'त्ति' दाहिण हत्थेण मुहपोत्ति घेत्तत्वा डब्बहत्थे रयहरणं कायव्वं ।

तथा

(द) "चिण्हट्ठा उवगरण दोसा उ भवे अचिंधकरणम्मि ।

मिच्छत्त सो व राया व कुणह गामाण वहरकरण ॥५३॥"

टीका : परिट्ठविज्जंते अहाजायमुवगरणं ठवेयव्वं - मुहपोत्तिया, रयहरणं चोलपट्टो य ।

इन दोनों पाठों से 'मुंहपत्ति को पास में रखना' यही लिंग सिद्ध होता है ।

(य) तथा योगशास्त्र के वंदन अधिकार में आते

'प्रव्रज्याकाले च गृहीतरजोहरणमुखवस्त्रिक.....'

'वामंगुलिमुहपोत्तीकरजुयलतलत्थजुत्तरयहरणो ।.....'

'वामकरगहिअंपोत्तीएगट्टेसेण वामकन्नाओ....' इन पाठों से भी

हाथ में मुंहपत्तिरखना ही शास्त्र सम्मत साधुलिंग सिद्ध होता है ।

हाथ में मुंहपत्ति रखना मुनिलिंग होते हुए भी, २४ घंटे मुंहपत्ति बांधकर ही रखने पर 'लिंगभेद' का महान् दोष लगता है ।

इसलिए "जुए पड जाती है, तो सिर काटने की मूर्खता" नहीं करनी चाहिए ।

(४) 'जयं भुजंतो भासंतो,' पावकम्मं न बंधई दशवैकालिक सूत्र की इस गाथा में यत्ना पूर्वक भाषण करने का लिखा है । सो हमेशा मुंह बंधा हुआ होवे तो यत्ना करने की कुछ भी जरुरत नहीं रहती, किन्तु हंमेशा मुंह खुल्ला होवे तभी मुख की यत्ना करके बोलने में आता है, इसलिये इस पाठ से भी हमेशा मुख बन्धा रखना कभी सिद्ध नहीं हो सकता और खुल्ला रखना व

बोलने का काम पडे तब यत्न करके बोलना यही खास जिनाज्ञा है ।

से भिक्खू वा २ उस्सासमाणे वा नीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता तओ संजयामेव ऊससिज्जा वा जाव वायनिसग्गं वा करेज्जा २ ॥ (आचा. श्रु. २, चू., १. अध्य २, उ. ३, सूत्र १०९) । उपर के दोनों पाठों से स्पष्ट है कि -

जब-जब मुँह खुलता है तब मुँह को ढंकना, यह शास्त्र की आज्ञा है, अतः मुहपत्ति को २४ घंटे बांधकर रखने में आज्ञा भंग का दोष भी है ।

(५) "वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं, क्षिप्यमाणं मुखे सदा ।

धर्मेति व्याहरंतं, नमस्कृत्य स्थितंहरे ॥" शिवपुराण, ज्ञानसंहिता, २९ वां अध्याय, श्लोक ३११ ॥ इस प्रकार शिवपुराण आदि जैनेतर शास्त्र, प्राचीन गुरुमूर्तियों से भी मुंहपत्ति को हाथ में रखने की सुविहित परंपरा सिद्ध होती है और वह संविग्न परंपरा आज भी मौजुद है, अतः मुंहपत्ति बांधे रखने में सुविहित परंपरा के भंग का दोष भी लगता है ।

(६) बिना कारण मुँह बांधे फिरना अव्यवहारिक - अशिष्ट भी दिखता है, अतः लोक विरुद्ध भी है, इत्यादि कई दोष मुंहपत्ति बांधकर रखने में लगते हैं ।

जिज्ञासु : तहत्ति, आपने सचोट रुप से आगम एवं शास्त्र पाठों से २४ घंटे मुंहपत्ति को बांध कर रखने की प्रवृत्ति को, आगम, एवं शास्त्र विरुद्ध सिद्ध किया है । अगर आपके पास इतने प्रमाण मौजुद है तो आप अज्ञानता में डुबी हुई भोली एवं श्रद्धावंत जनता को क्यों नहीं समझाते है तथा उनके साधुओं को समझाकर जैनशासन में एकता को क्यों नहीं करवाते हैं ?

सद्गुरु : आपकी भावना सुंदर है । पहले के जमाने में कई बार वाद हुए, उसमें मंदिरमार्गी जीते है कई स्थानकवासी साधुओं ने पुनः सत्य मार्ग का स्वीकार भी किया था । निकट के काल में नाभा नरेश की सभा में मंदिरमार्गी मुनि वल्लभविजयजी और स्थानकवासी संत श्री उदयचंदजी का वाद हुआ था, जिसमे मुनि वल्लभविजयजी की जीत हुई, ऐसे फैसले भी

मौजुद है। परंतु वर्तमान में वाद-विवाद का जमाना नहीं है और परिस्थितियाँ ऐसी है कि आपके जैसे कोई जिज्ञासु आवें तो उन्हें तत्त्व का बोध देने की ही भावना रहती है।

ऐसे भी तत्त्व रुचिवाले लोग ही कम होते है। उनमें भी कुछ लोग ही सत्त्वशाली होते है, जैसे कि आत्मारामजी म.सा. (विजयानंदसूरिजी), गयवरमुनि (ज्ञानसुंदरजी म.सा.) वगैरह जिन्होंने सत्य का ज्ञान पाने पर अपने मत को छोडकर सत्य मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ किया है। कुछ लोग ऐसे होते है जो सत्य को समझते है परंतु प्रवृत्त गलत आचरण को छोड नहीं सकते है। जैसेकि विद्वानसंत संतबालजी म.सा. निडरतापूर्वक कहते है - "मुखबंधन श्री लोंकाशाह ना समयथी शरु थयेल नथी परंतु त्यारबाद थयेला स्वामी लवजी ना समय थी शरु थयेल छे अने ए जरुरी पण नथी" (जैन ज्योति ता. १८-५-१९३६ पृ. ७)

और तेरापंथी आचार्य महाप्रज्ञजी ने भी निष्पक्षतापूर्वक स्वीकार किया है कि मुंहपत्ति बांधने की प्रथा नयी चालु हुई है। मुंह पर बांधने की पट्टी यह 'मुखवस्त्रिका' का अर्थ नहीं है। (तत्त्व बोध से साभार उद्धृत)

परंतु ऐसे निष्पक्षतापूर्वक सत्य का अन्वेषण करके उसका स्वीकार करने वाले भी कम होते है। इसलिए 'समझदार' जिज्ञासु होगा वह समझेगा इसी उद्देश्य से सत्यमार्ग का उपदेश देना उचित लगता है।

जिज्ञासु : आपने शत-प्रतिशत संतोषकारी जवाब देकर मेरी जिज्ञासा को संतोष दिया है और मुझे सन्मार्ग का बोध कराया है। आज से मैं सामायिक में मुंहपत्ति को मुंह पर बांधुगा नहीं। प्रायः मौन रखुंगा एवं प्रयोजन आने पर हाथ से मुंहपत्ति को मुंह के आगे रखकर बोलुंगा। इसमें प्रमाद नहीं करुंगा तकि वचनत्रुप्ति एवं भाषा समिति का सही पालन हो सकेंगे। आपने मुझे सन्मार्ग का ज्ञान देकर मिथ्यात्व प्रमाद, लिंगभेद, आज्ञाभंग, संयम विराधना आदि अनेक दोषों से बचाव महान उपकार किया हैं, उसका अत्यंत ऋणी रहुंगा।

मत्थएण वंदामि।

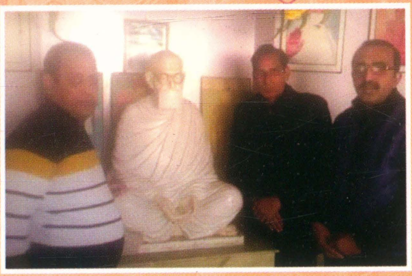
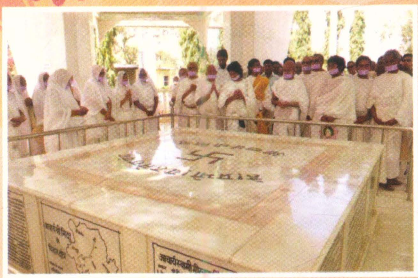

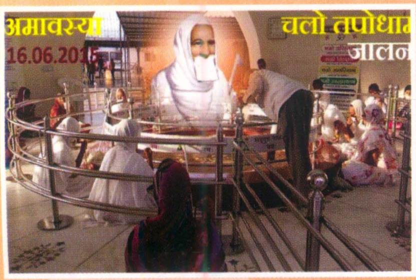
अमावस्या
चलो तपोधाम
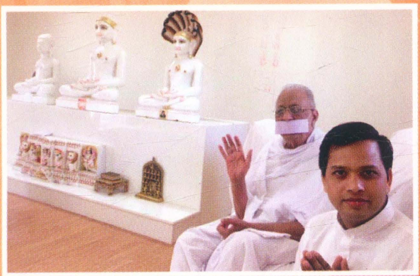
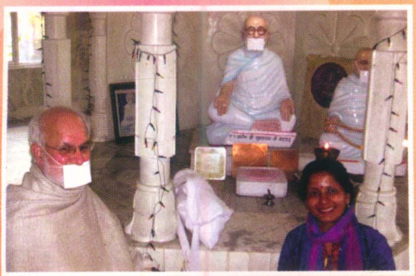
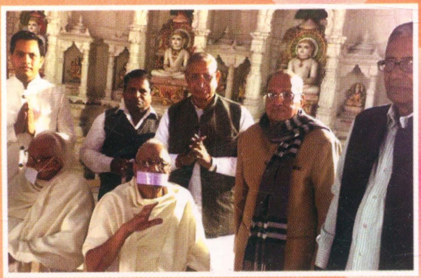

कल्पित कृति से सावधान

अभी-अभी हाथ में एक बनावटी कृति आयी है। जिसका नाम **'समुत्थान सूत्र'** है। त्रिलोकचंद जैन **(भूतकालीन चारित्र तिलोकमुनि)** जिसके संपादक है। **'जैसी दे वैसी मिले कुंए की गुंजार'** पुस्तिका का अधिकांश मेटर अंत में परिशिष्ट 4 और 5 में लिया है। जिससे **'गुंजार'** पुस्तिका के गुमनामी तीर फेंकने वाले छुपे रुस्तम भी ये ही होने चाहिए, ऐसा अनुमान होता है। अस्तु...।

पुस्तक के **'सम्पादकीय'** के निरीक्षण से **'चोर की दाढ़ी में तिनाका'** जैसा अनुभव हुआ है। संपादक को खुद को इस में कल्पित कृति का अनुभव हो रहा है। तभी तो 'अपने पूर्वग्रह के कारण अति होश्यार कोई साधु यह कहे कि -इसमें किसी की उपज का असर है, अतः हम इसे आगम रूप में नहीं स्वीकार करते हैं, तो यह व्यक्तिगत आग्रहमात्र है।' ऐसे विचार प्रकट हुए। फिर भी पुस्तक में अपने पक्ष (स्थानकवासी) की सिद्धि के किसी भी आगम में अंशमात्र भी दृष्टिगोचर न होते कल्पित पाठ मिलने से 'संपादक' यह सूत्र भी जिनवाणी संमत विषयवाला है, इसलिये अवश्य सम्माननीय है। इस प्रकार लिखते हैं-

प्रायः ये ही संपादक '- गुंजार' पुस्तक में भद्राहस्वामी रचित अनेक प्रमाणों से सिद्ध कल्पसूत्र को प्रामाणिक न मानकर कल्पित मानते हैं और अभी 100 साल पूर्व की कल्पित कृति को अपने पक्ष की सिद्धि होती है, इसलिये आगम कोटी में गिनते हैं। जो अपने कल्पित मत की सिद्धि करता है वह जिनवाणी संमत और जो अफने कल्पित मत की असिद्धि करता हो (चाहे वह गणधर रचित सत्य आगम भी क्यों न हो) वह अप्रामाणिक यह संपादक का नापदंड केवल मिथ्यात्व प्रयुक्त आभिनिवेश भरा स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

'समुत्थान सूत्र' की रचना पद्धति को खुद संपादक 12वीं से 14वीं सदी की मान रहे हैं, तो स्वतः सिद्ध होता है यह विशिष्ट पूर्वधरादि ज्ञानिओं से रचित कृति नहीं है, तो आगम कैसे मान रहे हैं? सम्पूर्ण विश्व में रोडी गाँ में भंडार में ही केवल 1 जीर्ण प्रत थी, इसकी दूसरी प्रत कहीं पर भी नहीं है, ऐसी कपोलकल्पित बातों पर कोई भी तटस्थ व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता।

वास्तविकता यह लगती है-100 साल पूर्व गणिवर्य उदयचंद्रजी म. के शिष्य प. श्री रत्नचंद्रजी को यह प्रत हनुमानगढ चातुर्मास में प्राप्त हुइ। इसका मतलब उदयचंद्रजी गणि का 110 वर्ष पूर्व सं. 1962 में नाभा राजसभा में मुनिश्री वल्लभविजयजी से मुहपत्ती बाबत वाद हुआ, उसमें उदयचंदजी की बुरी तरह हार हुई जिसका फैसला अपनी इसी पुस्तिका में पीछे दिया हुआ है। इसके बाद स्थानक वासीओं की अपकीर्ति हुई और उनमें से अनेक साधु संवेगी बनने लगे। इसलिये उन्होंने 'चोर कोटवाल को डंडे' नीति अपनाकर उल्टा प्रचार चालु किया और 'पीतांबर पराजय' नामक छोटी बुक छापी। उसी काल में इस बनावटी कृति की उत्पत्ति हुई हो, यह संभव है। इसका कारण यह है-

1. कृति में पृ. 24-25-26 में कपोलकल्पित दौर से मुँहपत्ती मुँह पर बाँधनी यह साधुलिंग है, वगैरह बातें लिखी हैं।
2. पृ 30 पर 'उपासक दशा' में आता सम्यक्त्व का आलावा 'अरिहंत चेइयाइं' निकल जाए इसलिये, नया मनघडंत आलावा बनाया है।
3. पृ. 61-63 पर तिखुत्तो के पाठ से गुरुवंदन करना।
4. पृ. 129 पर आगमों में अंशमात्र भी नहीं मिलता ज्ञानार्थक चेइय शब्द देकर अपने पक्ष की सिद्धि की कोशिश की है।
5. पृ. 175 पर जिनकल्पी भी हमेशा मुँहपर मुँहपत्ती बाँधते हैं।
6. पृ. 201 पर परमात्मा के जन्मनक्षत्र पर भस्मग्रह संक्रम के बाद बहुत सारे मुनि मुंह पर से मुँहपत्ती निकालकर द्रव्य लिंगधारी बनेंगे।
7. पृ. 202 पर भस्मग्रह के उतरने पर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका की भी उदय-उदय पूजा होगी।
8. पृ. 203 पर जो प्रकृतिभद्रक भी जीव जिनप्रतिमा निर्माण कराएगा अथवा उसकी प्रतिष्ठा करवाएगा, वह पापकर्म का बंध करेगा।

भारेकर्मी जीव ऐसे कृत्रिम-बनावटी कृतियों को छापकर संसार को बढ़ाते हैं। इस अराजकता के काल में कौन-किसका मुँह बंद कर सकता है?

सुज्ञ भवभीरु ऐसी भेलसेल से सावधान रहें!!!

- भूषण शाह